खण्ड 4
वास्तुशास्त्र की अवधारणा

खण्ड चार का परिचय

खण्ड चार के अध्ययन में आपका स्वागत है । वास्तुशास्त्र की अवधारणा विषयक इस खण्ड में 05 मुख्य शीर्षकों का चुनाव करके पूरी विषयवस्तु का वर्णन समाहित किया गया है। मनुष्य का शरीर क्षिति,जल,पावक,गगन और समीर से बना है। इसी को पंचमहाभूत कहते हैं। वास्तु में इनका बहुत महत्व है। साथ ही वास्तु के लिए प्राकृतिक शक्तियों का विचार किया जाना भी अनिवार्य होता है। देश का निर्णय भी उतना ही आवश्यक है जितना अन्य तथ्यों का। वास्तु के लिए दिशा का विचार बहुत महत्वपूर्ण है। काल की विवेचना का होना भी उतना ही प्रभावपूर्ण है। इन समस्त विषयों का वर्णन आपके अध्ययन के लिए चतुर्थ खण्ड में प्रस्तुत है। इस खण्ड के विशाल वर्णन को विशेषज्ञों द्वारा निम्नलिखित पॉच शीर्षकों में विभाजित करके अध्ययन हेतु लिखा गया है-

1. पंचमहाभूत एवं तन्मात्राएं
2. प्राकृतिक शक्तियाँ
3. देश की अवधारणा
4. दिक् की अवधारणा
5. काल की अवधारणा

उक्तानुसार क्रमशः प्रथम खण्ड में वास्तु के स्वरूप, द्वितीय खण्ड में उद्भव एवं विकास, तृतीय खण्ड में वास्तुशास्त्र के आचार्य एवं उनके मानक ग्रन्थ, तथा चतुर्थ खण्ड में वास्तु की अवधारणा का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त करने के पश्चात् आप इन विषयों की विवेचना करने, व्याख्या करने और इन्हें समझाने में सक्षम हो सकेंगें।

इकाई 1 पञ्चमहाभूत एवं तन्मात्राएं

इकाई प्रारूप

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपः

- वास्तुशास्त्र की सामान्य अवधारणा को समझ सकेंगे।
- पंचमहाभूत की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- तन्मात्राओं की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- शब्द तन्मात्रा और आकाश महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को समझ सकेंगे।
- स्पर्श तन्मात्रा एवं वायु महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को समझ सकेंगे।
- रूप तन्मात्रा एवं अग्नि महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को समझ सकेंगे।
- रस तन्मात्रा एवं जल महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को समझ सकेंगे।
- गन्ध तन्मात्रा एवं पृथ्वी महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वस्तुतः प्राचीन भारत में वास्तुशास्त्र का दृष्टिकोण बहुत ही महत्वपूर्ण एवं व्यापक व स्पष्ट है।

वास्तविक रूप में देखा जाए तो यह परमाणु तथा अणु के मेल से ही किसी पिण्ड अथवा वास्तु का निर्माण होता है तथा यही वस्तु व पिण्ड का निर्माण व उसमें होने वाली प्रक्रिया दोनों ही वास्तु के विषय हैं। यह दृश्यमान जगत भी वास्तु का ही एक साक्षात् स्वरूप ही है क्योंकि इस जगत का निर्माण भी परमाणु व अणुओं से ही हुआ है। जनसामान्य की धारणा है कि विश्व निर्माण की प्रक्रिया के साथ ही वास्तुशास्त्र की अवधारणा का विकास भी प्रारम्भ हो जाता है इसलिए वैदिक ऋषिगण भी इसी विषय के चिन्तन में संलग्न रहे कि आखिर इस विश्व की रचना किसने की ? और कैसे की ? इस विश्व की रचना में किन किन पदार्थों का उपयोग किया गया ? इत्यादि। इसी चिन्तन के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि दैवी अवधारणा ही सच्चे अर्थों में वास्तुशास्त्र का मूल है क्योंकि सनातन संस्कृति के अनुसार ज्ञान के प्रथम स्रोत ऋग्वेद में वास्तु से सम्बन्धित वास्तु **वास्तोः**[1] **वास्तूनी**[2] तथा **वास्तोष्पति**[3] आदि शब्दों का विवरण दैवी अवधारणा को ही सन्दर्भित करते हैं। वैदिक ऋषियों के चिन्तन से यह उद्घाटित होता है कि आध्यात्मिकता के चिन्तन से सर्वत्र सर्जनात्मकता जीवन की श्रेष्ठता स्थापित हो, इसलिए ही वास्तुशास्त्र में सर्वत्र दैवीय अभिव्यक्तियां मिलती हैं। इन्हीं तथ्यों के कारण वास्तोष्पति नामक एक देव की कल्पना की गयी जो कि भवनों या वास्तुगत संरचनाओं से ही नहीं अपितु वहां निवास करने वाले समस्त जीवों के सर्वविध अभ्युदय से सम्बन्ध रखता है। भारतीय सनातन परम्परा में वास्तु के इस प्रकार दैवीय चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तु संरचनायें देव भावना के साथ पूजित एवं निर्मित की जाने लगी और यह परम्परा आज तक जीवन्त रूप से चली आ रही है।

वस्तुतः वेद का यह घोष की यह भूमि मेरी माता है तथा हम इसकी सन्तान है सर्वविदित है परन्तु यहां यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि यह भूमि जो कि हमारी मां है इसका प्रादुर्भाव आखिर कैसे हुआ ? तो इसी जिज्ञासा के समन हेतु वेदान्त सार कार का वचन है कि **तमः प्रधान - विक्षेपशक्तिमद्- अज्ञान-उपहित-चैतन्याद् आकाशः आकाशाद् - वायुः वायोः अग्निः अग्नेः आपः अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते**[4] अर्थात् तमस् प्रधान विक्षेपशक्ति वाले अज्ञान उपाधि के साथ युक्त चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति में दैव तत्व की प्राधानता है इसलिए इन उपर्युक्त आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी आदि तत्व भी दैव तत्व से अभिभूत हैं। इन्हीं तत्वों को महाभूत के नाम से भी जानते हैं।

इन महाभूतों के साथ इनकी तन्मात्राएं भी जुड़ी हुई हैं जिनको हम पृथक नहीं कर सकते हैं। महाभूत और इनकी तन्मात्राओं को हम इस सारिणी के अनुसार समझ सकते हैं -

महाभूत	आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथ्वी
तन्मात्रा	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध

[1] ऋग्वेद 5.41.8, 7.54.1-3, 7.55.1, 8.17.14

[2] ऋग्वेद 1.154.6

[3] ऋग्वेद 5.54.1-3

[4] वेदान्त सार 2.57

1.2 वास्तुशास्त्र की सामान्य अवधारणा

भारतीय सनातन संस्कृति के मूल आधार सृष्टि ज्ञान के आदि स्रोत वेद हैं। वेदों में ही हमारे ऋषियों का अलौकिक ज्ञान प्रतिफलित होता दिखाई देता है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए की जिन विद्याओं का वैदिक पृष्ठभूमि पर विकास हुआ, वे विद्याएं मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के प्रत्येक जीव के लिए सर्वथा कल्याणकारी ही सिद्ध हुई। वास्तव में मनुष्य एवं समस्त जीवों के निवास एवं कार्य करने योग्य भूमि एवं भवन को वास्तु कहते हैं और जिस शास्त्र में भूमि एवं भवन में निवास तथा कार्य करने वाले लोगों को अधिकतम सुविधा व सुरक्षा की प्राप्ति के विविध सिद्धान्तों एवं नियमों व विधियों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया जाता है, उस शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं। कई शास्त्रकारों के अनुसार यह वास्तुशास्त्र ज्योतिष शास्त्र के संहिता खण्ड से सम्बन्धित मानते हैं तथा कई शास्त्र कार इसे अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य वेद के रूप में मानते हैं। साथ ही यहां यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थकार ज्योतिष को वास्तु के आठ अंगों में एक अंग मानता है।[5] अतः एक प्रकार से कह सकते हैं कि ज्योतिष और वास्तुशास्त्र में परस्पर अङ्गा अङ्गी भाव है, और जब हम वास्तुशास्त्र की बात करते हैं तो यह शास्त्र वास्तव में पञ्चमहाभूतों के परस्पर तालमेल एवं प्राकृतिक शक्तियों के प्रबन्धन द्वारा न केवल मानव जीवन अपितु समस्त जीवों के क्रियाकलापों में उनको सुविधा एवं सुरक्षा देने के लिए सतत प्रयत्नशील दिखलाई देता है। सामान्यतया वास्तुशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह शास्त्र वास्तव में आकाश - वायु - अग्नि - जल - पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों से निर्मित समस्त जीवों के जीवन में इन्हीं पंच महाभूतीय वातावरण से साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित करने को सर्वोच्च प्राथमिकता तो देता ही है साथ ही हमारा तन एवं मन तथा जीवन इन महाभूतों के सन्तुलन से स्वतः स्फूर्त और इनके असन्तुलन से शिथिल सा भी हो जाता है यह ध्यान रखना चाहिए। अतः वास्तुशास्त्र का स्थान हमारे जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

1.3 वास्तुशास्त्र में पञ्चमहाभूत और तन्मात्राओं की अवधारणा

सृष्टि उत्पत्ति विषय में आर्ष ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त तथा भास्कराचार्य आदि आचार्यों ने श्रुति - पुराण सांख्य योग आदि शास्त्रों के आधार पर सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया है तथापि भास्कराचार्य ने अपने अप्रतिम ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि में इस सन्दर्भ में लिखते है कि सर्वप्रथम परम ब्रह्म परमेश्वर (वासुदेव) अथवा सांख्यमत में पुरुष से प्रकृति (संकर्षण) की उत्पत्ति हुई तदनन्तर बुद्धि जिसे महान नाम से जानते हैं जिसे प्रद्युम्न भी कह सकते हैं। फिर अंहकार जिसे अनिरूद्धः के नाम से जानते है। फिर अहंकार से सात्विक राजसिक तामसिक सृष्टि उत्पन्न हुई इसे ही क्रमशः वैकारिक-तैजस-भूतादि के नाम से जानते हैं। सात्विक (वैकारिक) सृष्टि से दिशा-वायु-सूर्य-वरूण-अश्विन कुमार-अग्नि-इन्द्र-विष्णु-मित्र-प्रजापति-चन्द्र आदि की सृष्टि हुई। इसी प्रकार राजसिक (तेजस) से ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय तथा मन का सृजन हुआ। तमस तत्त्व से पांच तन्मात्राओं **शब्द - स्पर्श- रूप - रस - गन्ध** की उत्पत्ति फिर इन पांच तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों **आकाश - वायु - अग्नि - जल - पृथ्वी** की उत्पत्ति हुई।

---

[5] सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च .। सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा॥
एतान्यङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्। शास्त्रानुसारेणाभ्युद्य लक्षणानि च लक्षयेत्॥
समराङ्गणसूत्रधार 44.3-4

और इन्हीं पांच महाभूतों से इस भौतिक जगत का सृर्जन हुआ। शब्दस्पर्शादि पाञ्चतन्मात्राओं में ही आकाशादि पंचमहाभूत अभिव्यक्त होते हैं यही बात वेदान्त सार में भी कही गयी है।[6]

हमारी वैदिक चिन्तनधारा में विविध विद्या हैं पर वास्तुविद्या एक एसी विद्या है जिसमें मनुष्य मात्र के लिए आवास एवं अन्य कार्यों के लिए बनाए भवनों में पूर्वोक्त आकाशादि पञ्चमहाभूतों के परस्पर संतुलन को ध्यान में रखकर उस भवन के निर्माण हेतु विविध नियमों व सिद्धान्तों का हमारे आचार्यों ने प्रस्तुतिकरण किया है, जिससे वहां रहने वाले लोगों की शारीरिक व मानसिक क्षमताओं को सक्रिय एवं उन्नत रखा जा सके यही कारण है कि इस शास्त्र का मानवजीवन में सार्वभौम उपयोग एवं महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

1.4 महाभूत एवं तन्मात्राओं के प्रकार

अखिल ब्रह्माण्ड में आकाश - वायु - अग्नि - जल - पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों की सत्ता सर्वत्र विराजमान है। इन पाञ्चमहाभूतों के बिना इस चराचर जगत और जीवन की कल्पना असंभव है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण सौरमण्डल में ग्रह - नक्षत्र - तारे आदि के मूर्तत्व में आनुपातिक रूप से इन पाञ्चमहाभूतों का ही योगदान है। इन पञ्चमहाभूतों में पृथ्वी आदि से गुणों में क्रमिक ह्रास भी होता है जैसे पृथ्वी नामक महाभूत में सबसे अधिक पांच गुण हैं इसी प्रकार अब क्रमशः गुणों में ह्रास भी देखने को मिलता है यथा जल में चार गुण और अग्नि में तीन गुण तथा वायु में दो गुण एवं आकाश में एक गुण ही विद्यमान है। महाभूतों के ये विशेष गुण ही तन्मात्राएं कहलाती हैं। उपरोक्त में एकाधिक गुणशाली तत्वों में उनका एक ही गुण विशिष्ट तथा अन्य गुण सामान्य होते हैं। इसे निम्न तालिका द्वार हम और स्पष्टतया समझ सकते हैं, यथा -

आकाशादि पाञ्चमहाभूतों के गुणादि स्पष्टार्थ चक्र

क्र. सं.	**पाञ्चमहाभूत**	**तन्मात्रा**	**सामान्य गुण**	**विशेष गुण**
01.	**आकाश**	**शब्द**	**शब्द**	**शब्द**
02.	**वायु**	**स्पर्श**	शब्द, **स्पर्श**	रूपरहित स्पर्श
03.	**अग्नि**	**रूप**	शब्द, स्पर्श, **रूप**	उष्ण स्पर्श
04.	**जल**	**रस**	शब्द, स्पर्श, रूप, **रस**	शीतल स्पर्श
05.	**पृथ्वी**	**गन्ध**	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, **गन्ध**	गन्धवती

वास्तुशास्त्र उपर्युक्त आकाशादि पञ्च महाभूतों के तालमेल से मानव जीवन व आसपास के वातावरण में समञ्जस्य स्थापित करने को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। पञ्चमहाभूत व इनके विशेष गुण अथवा इनकी तन्मात्राओं के विशेष तालमेल को ही दार्शनिक पंचीकरण के

[6] वेदान्त सार 2.103

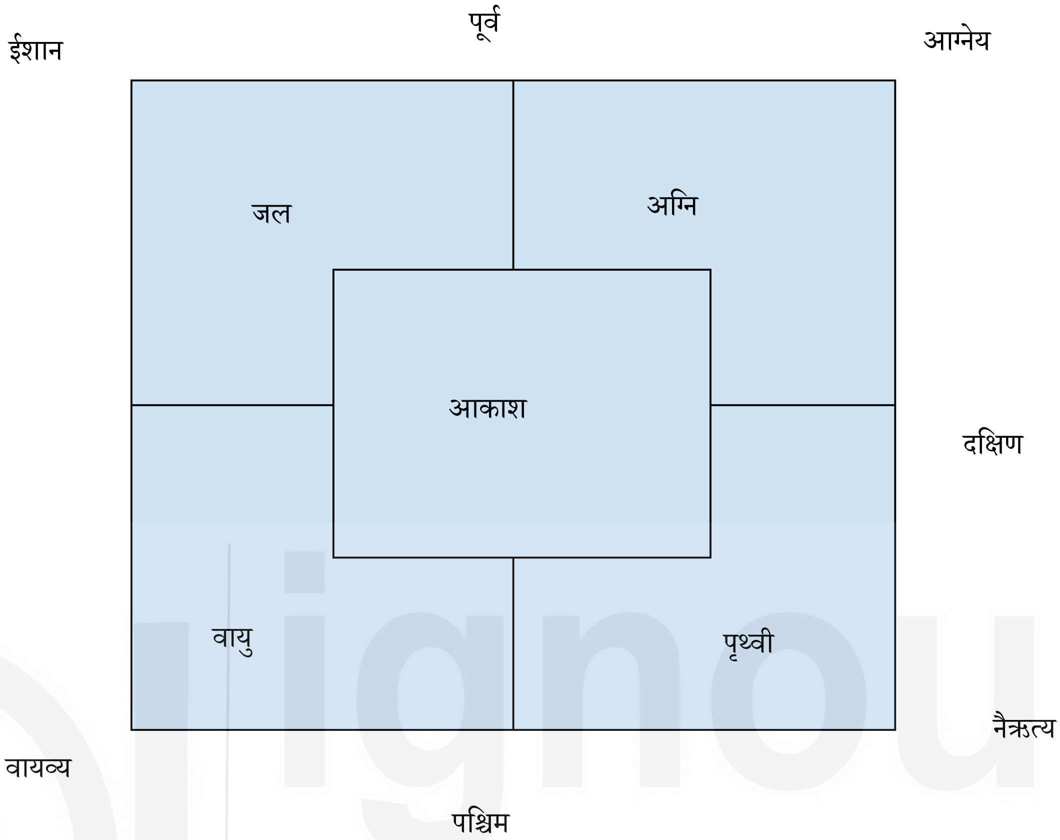
सिद्धान्त के नाम से जानते हैं[7], जिसे (पंचीकरण को) हम निम्न सारिणी के द्वारा सरलता से समझते हैं, यथा -

क्रम सं.	**महाभूत**	**तत्त्व**
01.	आकाश 50 प्रतिशत	वायु - 12.5 प्रतिशत अग्नि - 12.5 प्रतिशत जल - 12.5 प्रतिशत पृथ्वी - 12.5 प्रतिशत
02.	वायु 50 प्रतिशत	आकाश - 12.5 प्रतिशत अग्नि - 12.5 प्रतिशत जल - 12.5 प्रतिशत पृथ्वी - 12.5 प्रतिशत
03.	अग्नि 50 प्रतिशत	आकाश - 12.5 प्रतिशत वायु - 12.5 प्रतिशत जल - 12.5 प्रतिशत पृथ्वी - 12.5 प्रतिशत
04.	जल 50 प्रतिशत	आकाश - 12.5 प्रतिशत वायु - 12.5 प्रतिशत अग्नि- 12.5 प्रतिशत पृथ्वी - 12.5 प्रतिशत
05.	पृथ्वी 50 प्रतिशत	आकाश - 12.5 प्रतिशत वायु - 12.5 प्रतिशत अग्नि- 12.5 प्रतिशत जल - 12.5 प्रतिशत

यही पञ्चीकराण के सिद्धान्त का प्रतिरूप वास्तुशास्त्र में भी स्पष्ट दिखाई देता है क्योकि वास्तुशास्त्रानुसार जब हम किसी क्षेत्र का विश्लेषण करते हैं तो सर्वप्रथम हम इन्हीं आकाशादि पंच महा तत्त्वों का ही सामञ्जस्य देखते हैं तथा इन महातत्वों के उचित तालमेल से ही उस वास्तु क्षेत्र पर रहने से हम समुचित सुविधा - सुरक्षा - शान्ति आदि प्राप्त कर सकते हैं। अतः वास्तुक्षेत्र में किसी भी निर्मिति से पूर्व हमें वहां आकाशादि महाभूतों के विषय में चिन्तन कर लेना चाहिए, एतदर्थ उस वास्तुक्षेत्र जिस पर हम आवास आदि निर्माण करने जा रहे हैं उसको सर्वप्रथम पांच भागों में बाटना चाहिए, जिसमें ईशान की तरफ जल क्षेत्र आग्नेय की ओर अग्नि नैऋत्य की तरफ भूमि तथा इसी प्रकार वायव्य की ओर वायु नामक महाभूत स्थित रहते हैं तथा

[7] वेदान्तसार 2.99

भूमि के मध्य भाग में आकाश तत्व उपस्थित रहता है जिसे हम निम्न चित्र के माध्यम से सरलता से समझ सकते हैं –



उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि वास्तुक्षेत्र के मध्य भाग में आकाश महाभूत का स्थान है तथा यह शेष सभी महाभूतों में समान रूप से समाहित है। आइए अब क्रमशः आकाशादि पंचमहाभूतों के बारे में और विस्तृत अध्ययन करते हैं

1.4.1 शब्द तन्मात्रा एवम् आकाश महाभूत

वस्तुतः पाञ्चमहाभूतों का आधार यह आकाश ही है जिससे सभी का उद्भव हुआ है अतः इन महाभूतों में आकाश का सर्वाधिक महत्व है। यह सभी महाभूत अर्थात् पृथ्वी - जल - वायु - अग्नि आदि सभी से विस्तृत व अत्यन्त व्यापक तो है ही साथ ही इसका विस्तार अनन्तानन्त है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आकाश महाभूत में सावकाश तथा निरवशेष संस्थित है। यहां पर सावकाश से तात्पर्य सरल शब्दों में समझें तो तात्पर्य यह है कि इस आकाश में ब्रह्माण्ड को रख देने पर जो रिक्तता यानि अवकाश शेष रह जाता है तथा निरवशेष से तात्पर्य है कि इस आकाश में ब्रह्माण्ड के स्थित होने पर ब्रह्माण्ड का कोई भी छोटा या बड़ा अंश अवशेष अर्थात् बच नहीं पाता।[8] यह आकाश नामक महाभूत की तन्मात्रा है शब्द। शब्द तन्मात्रा की अभिव्यक्ति हम आकाश के माध्यम से ही समझ सकते हैं। हम उपर्युक्त बातों को संज्ञान में लेकर यह चिन्तन करें कि अगर यह आकाश ही नहीं होता तो क्या होता ? तब जीव जगत की ही उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् न ब्रह्माण्ड होता और न ही हमारी पृथ्वी होती, तात्पर्य यह है कि कुछ भी नहीं

[8] उद्धृत भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी, पृष्ट 17

होता। क्योंकि इस सकल ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां आकाश तत्त्व व्याप्त न हो। क्योंकि प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया अथवा गतिविधि के लिए खाली स्थान चाहिए होता है तथा यह खाली स्थान विना आकाश के संभव ही नहीं है। इसलिए इस भुवन में अथवा ब्रह्माण्ड में आकास का महत्व सतत अक्षुण्ण है।

आकाश की महत्ता इस बात से भी जानी जा सकती है कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है उसका मूल कारण आकाश ही है । चाहें हम आकाशगंगाओं की बात करें अथवा अनगिनत निहारिकाओं की बात करें अथवा अनन्त तारे या सौर परिवार के सदस्य ग्रह तथा उपग्रह ही क्यों न हों सब आकाश में ही समाहित हैं। किसी भी प्रकार की ऊर्जा ही क्यों न हों जैसे सौर ऊर्जा - चुम्बकीय ऊर्जा - पृथ्वी का गुरुत्वबल आदि सब आकाश से ही हैं। समस्त प्रकार की गैंसें चाहे आक्सीजन, कार्बनडाई आक्साइड,नाईट्रोजन, हाइड्रोजन, हीलियम आदि समस्त गैंसो को साथ ही प्रकाश की किरण अथवा विकिरण, विविध प्रकार की तरंगे आदि सब कुछ जो हम चिन्तन कर सकते हैं वह सब कुछ इस अनन्त आकाश में ही समाहित है।

जैसे कोई भी जीव अपने शरीर के आन्तरिक तथा बाह्य समस्त अंग अपनी जो भी स्वाभाविक क्रिया अथवा प्रतिक्रिया आदि करते हैं उन सबमें आकाश सहायक होता है ठीक उसी प्रकार जब हम व्यक्ति के अनुसार उचित स्थान पर वास्तु के समस्त सिद्धान्तों के अनुसार कोई भवन आदि बनाते हैं तो उस निर्माण के भीतर तथा बाह्य समस्त प्रकार के क्रियाकलाप आकाश महाभूत की सहायता से ही संपूरित होते हैं। भवन के अन्दर हंसना - रोना - चिल्लाना - सोना - भोजन - गाना - बजाना - नृत्य - खेलना आदि समस्त कार्य हम आकाश महाभूत की सहायता से ही कर पाते हैं। शायद इसलिए ही वास्तुशास्त्र में इस महाभूत का विशेष ध्यान रख कर भवन निर्माण में एकशाला से लेकर बहुमंजिला आदि विविध प्रकार भवनों में उंचाई - लम्बाई - चौड़ाई - खुली जगह - बरामदा - द्वार - खिड़की - झरोखे - ब्रह्मस्थान - आंगन आदि का विचार किया जाता है जिससे कि आकाश तत्त्व का ठीक ठीक सदुपयोग किया जा सके।

1.4.2 स्पर्श तन्मात्रा एवं वायु महाभूत

जैसा कि विदित है कि आकाशादि पंचमहाभूतों कि उत्पत्ति में शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं का सहयोग रहा है इसलिए रूप रहित स्पर्श तन्मात्रा वायु नामक महाभूत की उत्पत्ति में प्रमुख कारण है । दूसरे शब्दों में कहें तो स्पर्श ही वायु नामक महाभूत की तन्मात्रा है । वस्तुतः आकाश से वायु का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि बिना आकाश के वायु का होना असम्भव है तथा वायु के बिना इस संसार में किसी की सांसे चलना असम्भव है अतः इस चराचर जगत में जीवन जीने हेतु वायु का होना अत्यन्त आवश्यक है अतः आकाश तत्त्व की तरह ही यह वायु नामक महाभूत भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारे शरीर में प्राण - अपान - व्यान - उदान - समान आदि पांच प्रकार की वायु रहती हैं जिससे शरीर का सम्यकतया संचालन होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जब तक ये वायु शरीर में सक्रिय हैं तब तक ही जीवन है, तथा जब ये वायु निष्क्रिय हो जाती है तो यह शरीर भी अपनी जीवन यात्रा पूरी कर लेता है। शरीर में छींक - पाद - डकार - अंगों का फड़कना - हृदय की धड़कन आदि वायु की सक्रियता के प्रतीक हैं।

वस्तुतः हमारे आस पास के वातावरण अथवा वायुमण्डल में सर्वत्र आक्सीजन - कार्बनडाई आक्साइड - नाईट्रोजन - हाईड्रोजन - आर्गन - हीलियम - ओजोन - वाष्पकण आदि मिले रहते हैं। प्राणियों के जीवन के लिए तथा अग्नि आदि को जलाने हेतु वातावरण में आक्सीजन

का होना आवश्यक है इसी प्रकार वृक्ष - वनस्पति आदि के लिए नाइट्रोजन की आवश्यक्ता होती है। प्राणीमात्र के जीवन के लिए वायु में 21 प्रतिशत आक्सीजन तथा 78 प्रतिशत नाइट्रोजन का होना आवश्यक है। सामान्यतया वायु सभी प्राणियों अथवा जीव धारियों के जीवन और उनकी समस्त गतिविधियों के लिए परमावश्यक तत्त्व है। मानव शारीरिक एवं मानशिक संतुलन, सक्रियता एवं विकास के लिए वायुमण्डल में पूर्वोक्त गैंसों का सही प्रतिशत मात्रा में होना, खुली हवा का संचरण, सही वायुमण्डलीय दाब तथा सही मात्रा में आद्रता या नमीं का होना आवश्यक है। इसलिए वास्तुशास्त्र भवन निर्माण में खुली जगह, बरामदे, छत की उंचाई, द्वार, खिड़की, झरोखे और आसपास में पेड़ - पौधे लगाने का विचार करता है, जिससे भवन में वायुतत्त्व का सही और संतुलित रूप से उपयोग किया जा सके।[9]

1.4.3 रूप तन्मात्रा एवम् अग्नि महाभूत

रूप तन्मात्रा अग्नि महाभूत की तन्मात्रा है, इसका स्पर्श उष्ण है। वायु महाभूत से अग्नि महाभूत की उत्पत्ति हुई है ऐसा शास्त्रकारों ने प्रमाणित किया है। शास्त्रों में सूर्य को जगत की आत्मां के साथ - साथ ही समस्त जगत की ऊर्जा का स्रोत भी माना है। यह सूर्य समस्त विश्व को केवल प्रकाश - ऊष्मा - ऊर्जा आदि ही नहीं देता अपितु इसकी सापेक्षता में भूमि की गति से अहोरात्र बनते हैं साथ ही ऋतुओं का परिवर्तन होता है। शुष्क एवं मानसूनी हवाओं का चलना सूर्य की ऊर्जा और उसके तापमान पर ही निर्भर करता है । सूर्य के कारण ही समस्त भूमण्डल पर जलवायु पर विविधता पाई जाती है यथा - भूमध्य रेखा के आसपास के क्षेत्रों में सूर्य की किरणें लम्बवत सीधी पड़ती है जिससे वहां का तापमान अधिक रहता है इसी प्रकार उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव क्षेत्रों पर सूर्य की किरणे तिरछी पड़ती है जिससे वहां का तापमान शून्य से कम रहता है जिसका परिणाम यह है कि वह क्षेत्र सर्वदा बर्फ से आच्छादित रहतता है।

वस्तुतः समस्त जीवधारियों के शरीर में जब तक गरमीं है तभी तक उसका रहता है तथा जैसे ही यह गर्मी ठण्डी होती है उसका जीवन समाप्त हो जाता है अर्थात् मृत्यु हो जाती है। अग्नि महाभूत प्रकाश और ताप के रूप में ऊर्जा का संचार करता है। इस विश्व में सूर्य ऊर्जा एवं उष्मा अथवा ताप का मुख्य केन्द्र है। इसलिए आज के वैज्ञानिक, मानव तथा अन्य प्राणियों के उपर सूर्य आदि ग्रहों के प्रभाव में आस्था रखें या न रखें किन्तु वे इस बात से आश्चर्यान्वित हुए बिना नहीं रह सकते कि समुद्र की समतलता में, वायुमण्डल के दबाव में, ऋतुओं के परिवर्तन में और भूकम्प आदि की आवृत्तियों में जो घटनाक्रम दिखलाई दे रहा है, उसका सूर्य और चन्द्रमां की गतिविधियों के साथ सीधा सम्बन्ध है। इस सन्दर्भ में हमारे ऋषियों व आचार्यों ने भूमण्डल पर स्थित पदार्थों पर पड़ने वाले आकाशीय पिण्डों के प्रभावों को भी अपने दैनन्दिन जीवन में प्रत्यक्षीकरण किया कि सूर्योदय होने पर कुण्ड पोखरों में कमल खिल जाता है सायंकाल होते ही वह अपने आप को समेट लेता है, इसी प्रकार सूर्य अस्त होने पर रात्रि होती है तब चन्दमां को देखते ही कुमुदिनी नामक पुष्प खिल जाता है, दिन होने पर सूरजमुखी का पुष्प सूर्य को देखता रहता है, ग्रहण काल में वनस्पतियों का मुर्झाये सा रहना, इतना ही नहीं ग्रहण के समय समुद्र के जलस्तर का घटना बढना। और तो और पूर्णिमां के दिन पागलों का अधिक व्यग्र होना, समुद्र में ज्वार भाटे का आना आदि आदि ऐसे अनेक उदाहरणों का सूक्ष्म रूप से उन्होने प्रत्यक्षीकरण करके यह चिन्तन किया कि आखिर ये सब क्या हैं, इनका हमारे जन

---

[9] उद्धृत भारतीय वास्तुशास्त्र प्रो, शुकदेव चतुर्वेदी, पृ. 17

जीवन पर क्या प्रभाव होता है इसका विचार किया गया, मन्थन हुआ और इसी मन्थन से उत्पन्न नवनीत ने नए आयाम स्थापित किए, हमारे ऋषियों ने इसे आत्मसात किया और इस तरह सूर्यादि आकाश मण्डलीय ग्रहों का भूमि के हर पदार्थ पर प्रभाव को प्रतिपादित किया। विशेषतया इन सब कारणों में अधिकतम सूर्य चन्द्रमां के आमने सामने या एक साथ होने की स्थिति में परस्पर आकर्षण विकर्षण की स्थिति से पृथ्वी के संतुलन में एक प्रकार का विलक्षण संक्षोभ पैदा कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप हम इस प्रकार के प्रभाव देखते हैं।

पृथ्वी पर पूर्व - पश्चिम - उत्तर - दक्षिण आदि दिशाओं चारों तरफ़ निवाश करने वाले लोगों में जीवनी शक्ति व जीवन शैली में विविधता पाई जाती है। यहां यह समझने की आवश्यकता है कि यह भेद जो कि वहां के लोगों के जीवन शैली में देखने को मिलता है वह भेद उनके रहन सहन खान पान अथवा जाति संस्कृति के भेद के कारण नहीं है अपितु वह भेद वहां पाए जाने वाली जलवायु की विविधता के कारण ही होता है। वस्तुतः जलवायु से वहां के जीवों का स्वास्थ्य - समृद्धि - जीवन शक्ति - खान पान - जीवन शक्ति - शारीरिक वृद्धि आदि सीधे तौर पर प्रभावित होते हैं। सरल रूप से समझें तो जलवायु की इस विविधता में साक्षात् सम्बन्ध सूर्य का ही होता है क्योंकि जलवायु में यह परिवर्तन विविध राशियों में सूर्य की गति स्थिति व भूमि से निकटता व दूरता के प्रभाव के कारण ही उत्पन्न होता है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य वृष अथवा मिथुन राशि में स्थित होता है तब उसकी किरणों में अत्यन्त प्रचन्डता रहती है, इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में सूर्य वृश्चिक अथवा धनु राशि में रहता है तब इसकी किरणों में मृदुता रहती है इस प्रचण्डता व मृदुता के पीछे सूर्य का समीपत्व व दूरत्व का भाव ही है। इसी प्रकार सूर्य की किरणों में जब प्रचण्डता रहती है तब वाष्पीकरण के कारण वर्षा व उसकी मात्रा भी सूर्य पर ही आधारित होती है। फलस्वरूप हम यह निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जलवायु में जो परिवर्तन होता है तथा उस जलवायु का जो प्रभाव जीव जगत पर पड़ता है उसका सीधा सम्बन्ध सूर्य से ही है।

वास्तुशास्त्र में सूर्य के विविध प्रभाव, प्रकाश, तापामान, जलवायु, एवं विविध भौगोलिक परिस्थितियों का आवास निर्माण की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से उपयोग होता है। इस शास्त्र के सिद्धान्तों में द्वार निर्माण - बरामदा - आंगन - रसोईघर - खिड़की - झरोखे - खुली जगह आदि के निर्माण में अग्नि तत्व का समुचित उपयोग का ध्यान रखा गया है।

1.4.4 रस तन्मात्रा एवं जल महाभूत

जैसा कि विदित है आकाश से वायु एवं वायु से अग्नि महाभूत का प्रादुर्भाव होता है, इसी तरह अग्नि से जल तत्व की सृष्टि होती है। हमारे जीवन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण घटकों में से एक है जल तत्त्व। प्राणीमात्र के शरीर में पञ्चमहाभूतों के अनुपात में पृथ्वी तत्त्व के बाद जल तत्त्व का ही स्थान आता है। सामान्य जन मानस की भाषा में कहा गया है कि **जल ही जीवन है**। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि से इस ब्रह्माण्ड में जिस जिस ग्रह या उपग्रह पर जल की उपलब्धता है वहां वहां प्राणीयों के जीवन का अस्तित्व पाया जाता है। वैज्ञानिकी भाषा में समझें तो आक्सीजन व हाईड्रोजन के मिश्रण से जल की उत्पत्ति मानी जाती है। जल के बनने में इन दोनों तत्वों का दो - एक का अनुपात चाहिए। अर्थात् हाइड्रोजन का दो अंश तथा आक्सीजन का एक अंश जब आपस में मिलते हैं तब जल की उपस्थिति स्वयं ही हो जाती है। जल तत्त्व की तन्मात्रा रस है। अर्थात् जिस तत्त्व में रस पाया जाता है तथा जिसका आश्वादन किया जा सके निश्चित रूप से उस तत्व में जल तत्त्व की उपस्थिति ही है। पंच ज्ञानेन्द्रीयों में हमारी जिह्वा रस

तत्त्व को पहचानने में सहायक इन्द्रिय है। इसलिए ही इसे रसना भी कहते हैं। जिस अनुपात में भूमि पर जल तत्व की मात्रा उपलब्ध है उसी अनुपात में हमारे शरीर में भी जल तत्त्व की मात्रा उपलब्ध है। जल में रस ही है जो विशेष रूप से पाया जाता है।

सामान्यतया भौगोलिक दृष्टि से देखें तो पूरे भू मण्डल पर सबसे अधिक लोगों अथवा जीव वहां पाए जाते हैं जहां पर जल की उपलब्धता अधिक है। समुद्र, नदी, एवं झील के किनारों पर बसे नगर एवं बस्तियां इसी बात की साक्षी हैं। जल की उपलब्धता एवं मात्रा को ध्यान में रखकर ही लोग भवन निर्माण करते हैं। अतिवृष्टि - अल्पवृष्टि एवं तटवर्ती क्षेत्रों में भवनों का निर्माण वहां की परिस्थितियों के अनुरूप ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जहां पर अधिक वर्षा होती है अथवा जहां पर कम वर्षा होती है या जहां पर हिमपात होता है अथवा पर्वतीय क्षेत्रों में वहां की व्यवस्तथा के अनुरूप ही भवन निर्माण होता है, अर्थात् जहां पर अतिवृष्टि अथवा हिमपात आदि होते हैं वहां उन स्थानों पर भवन की छत ढालदार बनाई जाती है ताकि अधिक वर्षा अथवा हिमपात होने से घर को अधिक नुकसान न हो। इसी प्रकार जहां अल्पवृष्टि होती है वहां जल की उपलब्धता हेतु जगह जगह पर जल संग्रह हेतु तालाब अथवा जलाशय या बावड़ियों का निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार तटवर्ती क्षेत्रों में बाढ़ आदि से बचाव को ध्यान में रखकर निर्माण कार्य करने की बात वास्तुशास्त्र बताता है।

वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण हेतु जल तत्त्व की उत्तम व्यवस्था की विशद चर्चा विहित है। वस्तुतः प्रत्येक भवन में जल की उपलब्धता के लिए नल, भूमिगत नलकूप, बोरिंग, कुंआ, भवन के उपर तथा नीचे पानी की टंकी, गंदा तथा मल जल की व्यवस्था हेतु सेप्टिक टैंक, सीवेज, नाली तथा भवन के फर्शों के ढ़लान आदि का विचार वास्तुशास्त्र में उत्तमतया किया गया है।

1.4.5 गन्ध तन्मात्रा एवं पृथ्वी महाभूत

माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः के अनुसार यह वसुधा हमारी माता है तथा मैं इसका पुत्र हूं, वेद का यह उद्घोष हमारे लिए आदेश है अतः वेद आज्ञा को सिरोधार्य करते हुए हम इस भूमी को अपनी माता मानते हैं। हमारी संस्कृति हमारी इस धरती को मां कहना सिखलाती है। यह धरती मां हमारे लिए तन - मन व जीवन को सभी सुविधाए प्रदान करती है। इतना ही नहीं हमारा आहार - विहार - विश्राम तथा जीवन की अधिकतम गतिविधियों का आधार यह धरती मां ही है। जिस प्रकार से हम बिना मां के जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते ठीक उसी तरह इस धरती मां के बिना हम आवास एवं जीवन की कल्पना नहीं कर सकते हैं। वास्तव में प्राणीमात्र का शरीर आकाश - वायु - अग्नि - जल - पृथ्वी आदि पांच महाभूतों से निर्मित है, किन्तु इन सब में से सबसे अधिक भाग पृथ्वी महाभूत का ही है इसके बाद शरीर में क्रमशः जल - अग्नि - वायु - आकाश का प्रतिशत उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यह संयोग की बात है कि हमारे आवास में भी सबसे बड़ा भाग भी इसी पृथ्वी तत्त्व का होता है तथा जल आदि तत्त्व उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं। इसी कारण जीव जगत अथवा प्राणी मात्र का भूमि से नैसर्गिक एवं भावनात्मक सम्बन्ध है। क्योंकि धरती हमें हमारी माता से भी अधिक सुविधा व सुरक्षा प्रदान करती है।

पृथ्वी महाभूत की तन्मात्रा गन्ध है, इसलिए कहा भी है कि तत्र गन्धवती पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी गन्धवती है। जहां गन्ध का भाव है वहां निश्चित रूप से पृथ्वी की उपलब्धता है। जैसे हमने पूर्व

में जान लिया है कि भूमि का विशेष गुण गन्ध है इसलिए वायु का विशेष गुण स्पर्श है परन्तु वायु किसी भी प्रकार की गन्ध या सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध से युक्त हो तो निश्चित रूप से वहां पृथ्वी तत्त्व की उपस्थिति माननी चाहिए क्योंकि गन्ध पृथ्वी का गुण है वायु का नहीं। इसी प्रकार जल में कोई गन्ध आ रही है तो वहां भी निश्चित रूप से पृथ्वी तत्त्व की उपस्थिति है अन्यथा जल का विशेष गुण तो रस होता है न कि गन्ध क्योंकि जल सर्वथा गन्ध हीन ही होता है।

वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के लिए पृथ्वी तत्त्व का समुचित उपयोग कैसे किया जाता है ? इसका विस्तार से बताया गया है, सबसे पहले भूमि चयन, भूमि परीक्षा, मिट्टी की गुणवत्ता का परीक्षण, भूमि का प्लवत्व अर्थात् ढ़लान, भूमि का शुभाशुभत्व, शल्योद्धार, भूखण्ड का आकार - प्रकार - विस्तार, समीपवर्ती मार्ग एवं वेध आदि के माध्यम से समुचिततया विचार किया जाता है।

1.5 सारांश

भूमि पर स्थित समस्त जीव धारियों में एक विशेष प्रकार की समानता यह है कि इनकी रचना आकाश- वायु-अग्नि - जल - पृथ्वी आदि पाञ्चमहाभूतों के मिश्रण से ही हुई है। इनमें पूर्वोक्त महाभूत एक निश्चित अनुपात में विराजमान रहते हैं। वास्तव में यह वास्तुशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि मनुष्य अपनी सफलता एवं सन्तुष्टी के लिए अपने आवास में आकाश-वायु आदि पांच महाभूतों का उत्तमतया उपयोग कैसे करें ? इसका सम्यक रूप से चिन्तन किया गया है। आवास में हमारी सुविधा - सुरक्षा - शान्ति हेतु मुख्यतया भूमि - जल - तेज - वायु का ही उपयोग किया जाता है। इन चारों महाभूतों के सम्यक उपयोग से आकाश नामक महाभूत स्वतः सक्रिय होकर अपना कार्य कर लेता है।

इस प्रकार वास्तुशास्त्र में विहित सिद्धान्तों के अनुसार पंचमहाभूतों के विधिवत उपयोग से बने आवास में पांचभौतिक तत्त्व वाले समस्त जीव धारियों की क्षमताओं को विकसित करने की शक्ति स्वतः स्फूर्त हो जाती है। इसी विशेषता के कारण हर जीव धारी को कोई न कोई स्थान विशेष प्रिय होता है। किसी व्यक्ति विशेष की शारीरिक व मानसिक क्षमताओं का विकास किसी स्थान विशेष पर जाने से तुरन्त स्फूर्त होने लगता है। इस दृश्यमान जगत में आकाशादि पाञ्चमहाभूतों की ही सत्ता व्याप्त है इसलिए इनके सामञ्जस्य का सतत ध्यान रखकर ही समस्त प्रकार के निर्माण कार्य करने चाहिए।

1.6 शब्दावली

व्यापक - विस्तृत, **दृश्यमान** - जो हमें दिखाई दे रहा है, **सर्वत्र** - सभी जगह, **प्रादुर्भाव** - उत्पत्ति, **जिज्ञासा** - जानने की इच्छा, **आर्षग्रन्थ** - ऐसा ग्रन्थ जिसका कोई लेखक न हो, **ह्रास** - कमी अथवा न्यूनता, **निर्मिति** - जिसका निर्माण किया जाये, **सावकाश** - आकाश में ब्रह्माण्ड को रख देने पर भी शेष जो खालीपन रह जाता है वह, **निरवशेष** - आकाश में ब्रह्माण्ड के स्थित होने पर ब्रह्माण्ड का कोई भी छोटा या बड़ा अंश अवशेष न बच पाए, **रिक्तता** - खालीपन, **अक्षुण्ण** - जिसका कभी क्षय नहीं होता हो, **असम्भव** - जो संभव नहीं है, **सम्यक्तया** - अच्छी तरह से, **उत्तमतया** - सबसे अच्छा, **जीवधारी** - कोई भी जीवित, **वसुधा** - भूमि, **उष्ण** - गर्म, **शुष्क** - सूखा, **लम्बवत** - लम्बा अथवा दण्ड जैसा,

आच्छादित - ढ़का हुआ, **आकर्षण** - खिचाव, **विकर्षण** - दूर होना, **वाष्पीकरण** - सूर्य की गर्मी से समुद्र को जल का भाप बनकर आकाश में उड़ने की प्रक्रीया, **रसना** - जिह्वा अथवा जीव, **अतिवृष्टि** - अत्यधिक वर्षा, **अल्पवृष्टि** - कम वर्षा, **तटवर्ती** - समुद्र अथवा नदियों के किनारों पर स्थित क्षेत्र, **प्लव** - ढ़लान।

1.7 उपयोगी पुस्तकें

01. भारतीय वास्तुशास्त्र - लेखक प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी, श्री ला. ब. शा.रा. स. वि. नई दिल्ली।

02. **बृहद्वास्तुमाला-** व्याख्याकार- श्रीरामनिहोर द्विवेदी, प्रकाशक - चौ. सु. प्र. -वाराणसी।

03. **वास्तुरत्नावली-** व्याखाकार- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', प्रकाशक - चौखम्बा ओरियन्टालिया दिल्ली

04. **वास्तुसार -** व्याख्याता- प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी जी, प्रकाशक -ईस्टर्न बुक लिंकर्स- दिल्ली

05. **बृहद् भारतीय कुण्डली विज्ञान -** सत्यदेव शर्मा, प्रकाशक - जगदीश संस्कृत पुस्तकालय- जयपुर

06. **सूर्यसिद्धान्त-** श्री कपिलेश्वर द्विवेदी, प्रकाशक - चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

07. **भारतीय ज्योतिष -** नैमिचन्द शास्त्री, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ- दिल्ली

08. **विश्वकर्माप्रकाश**- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन- वाराणासी।

09. **सिद्धान्त शिरोमणी**- आचार्य भास्कर- सम्पादक बापूदेव शास्त्री- चौ. सं. सी. ऑफिस वाराणसी

1.8 बोध प्रश्न

1. महाभूतों के सन्दर्भ में वास्तु की सामान्य अवधारणा को स्पष्ट करें।

2. तन्मात्राओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

3. पञ्चीकरण को विस्तार से समझाए।

4. आकाश महाभूत को वास्तु के सन्दर्भ में आलोकित करें।

5. वास्तुशास्त्र में दिशाओं के आधार पर पंचमहाभूतों की स्थिति को स्पष्ट करें।

6. वायु महाभूत को वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में समझाए।

7. जल तत्त्व के महत्व को समझाते हुए इसकी वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को स्पष्ट करें।

8. यह धरती मेरी मां है और मैं इसका पुत्र हूं को सन्दर्भित करते हुए पृथ्वी महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा पर निबन्ध लिखें।

9. अग्नि महाभूत की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

10. वायु तत्त्व की वास्तशास्त्रीय महत्ता पर लेख लिखें।

इकाई 2 प्राकृतिक शक्तियाँ

इकाई प्रारूप

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- अधिगमकर्ता वास्तुशास्त्र की सामान्य अवधारणा को समझ सकेंगे।
- अधिगमकर्ता प्राकृतिक शक्तियों की वास्तुशास्त्रीय अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- अधिगमकर्ता चुम्बकीय शक्ति की सामान्य अवधारणा को जान सकेंगे।
- अधिगमकर्ता गुरुत्वीय शक्ति की सामान्य अवधारणा को समझ सकेंगे।
- अधिगमकर्ता सौर शक्ति की सामान्य अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान मनीषा सर्वदा ज्ञान के अन्वेषण हेतु सभी को अभिप्रेरित करती आ रही है, हम सभी को विदित है कि ज्ञान नित्य है एवं अक्षुण्ण है, परंतु यह ज्ञान उस नवनीत के समान है जो मुख्य रूप से दूध में उपस्थित तो रहता है लेकिन जब तक उस दूध को जमाने के बाद दही में परिवर्तित कर उसको मथ नहीं देते तब तक वह नवनीत दृश्य नहीं हो पाता है ठीक इसी प्रकार वेद न केवल भारत के अपितु इस समस्त विश्व के ज्ञानकोश हैं। वेदों में निहित ज्ञान ही किसी न किसी रूप में आज भी समाज में तथा इस सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रहा है। वास्तव में वेदों से ही अनेक अनेक शास्त्रों का उदय हुआ है, वास्तु शास्त्र भी इन्हीं में से एक महत्वपूर्ण शास्त्र है जो कि अथर्ववेद के उपवेद, स्थापत्य वेद के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त है। वास्तु शास्त्र में वर्णित वास्तोष्पति को हमारे वैदिक ऋषियों ने वास्तुपुरुष के रूप में घर की चेतना तथा आध्यात्मिक

स्वरूप का प्रतिरूप तथा कल्याणकारी मानकर उसकी उपासना पर जोर दिया है । यह वास्तुपुरुष ही एक प्रकार से प्राकृतिक शक्ति के रुप में हमारे घर में विद्यमान एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्तितत्त्व है जिसके विना वास्तुशास्त्र नितान्त अपूर्ण है।

इस ब्रह्माण्ड में सबसे शक्तिशाली अगर कोई चीज है तो वह है प्रकृति। क्योंकि प्रकृति से ही सृष्टि से का विकास होता है तथा यही इसके ह्रास अथवा प्रलय की भी कारक है। प्रकृति की शक्ति उसके वातावरण में उपस्थित तीन प्रकार की शक्तियों में परिलक्षित होती है। ये शक्तियां प्रमुख रूप से गुरुत्वीय शक्ति, चुम्बकीय बल, एवं सौर ऊर्जा के रूप में विद्यमान हैं। वास्तुशास्त्र में इन तीनों प्रकार के बलों का उपयोग कर तन - मन एवं जीवन को सक्षम तथा संतुलित बनाने के लिए आवास के जिन नियमों, सिद्धान्तों वादों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया गया है। वास्तव इन्हीं का समग्र रूप ही एक रूप से वास्तुशास्त्र कहलाता है। प्रकृति में अनुशासन हेतु विविध प्राकृति शक्तियां कार्य करती रहती हैं जिनके माध्यम से ही जगत की गतिशीलता बनीं रहती है। प्रकृति के सभी कार्य एक अनुशासन के अनुसार ही घटते रहते हैं। पंचमहाभूत तथा प्राकृतिक शक्तियों के परस्पर सामञ्जस्य से ही सृष्टि का विकास व प्रलय आदि होते रहते हैं।ब्रह्माण्ड में अनन्त शक्तियां हैं जिनमें से प्रमुखतया पृथ्वी पर सौर शक्ति - चुम्बकीय शक्ति तथा गुरुत्वीय शक्ति का साक्षात् प्रभाव पड़ता है।

2.2 वास्तुशास्त्र की सामान्य अवधारणा

सामान्यतया यह सभी जानते हैं कि वास्तु शब्द वस् धातु से निष्पन्न है। जो कि निवास अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् निवास स्थान अथवा भवन निर्माण करने योग्य भूमि जहां पर निवास बनाया जाए उसे वास्तु कहते हैं, सरल रूप में कहे तो वास्तु की निर्माण विधि के सिद्धांतों तथा नियमों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही वास्तुशास्त्र है। यह शास्त्र भवन निर्माण हेतु भूखंड की गुणधर्मिता का परीक्षण कर वहां पर स्थित समस्त प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव का अध्ययन करता है। वास्तु शास्त्र का उद्देश्य, भवन निर्माण हेतु उपयुक्त भूखण्ड पर विविध प्राकृतिक तत्व, पंचमहाभूत व समस्त प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों के सामंजस्य व संतुलन के विन्यास का प्रतिपादन कर व्यक्ति के जीवन में शान्ति, सुरक्षा व सुविधा के भाव का जागरण करना ही है। वास्तु शास्त्र देश दिशा वातावरण एवं गुरुत्वाकर्षण आदि प्राकृतिक प्रभावों का अध्ययन कर हमारे जीवन को सुविधा पूर्ण सुखमय एवं सुरक्षित बना कर समाज कल्याण की उदात्त भावना को प्रदर्शित करता है इसमें कोई संशय नहीं होना चाहिए सरल शब्दों में कहें तो वास्तु शास्त्र मानव जीवन को सर्वविध सुख, शांति, सुरक्षा एवं सुविधा प्रदान करता है। वास्तुशास्त्र में वर्णित वास्तुपुरुष व 45 देवता विविध प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतीक हैं जो कि वास्तु को एक चैतन्य स्वरूप प्रदान करते हैं। वास्तुशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बताते हुए इसके आठ भाग बताये हैं, यथा -

सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा॥
एतान्यङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्॥[1]

अर्थात् वास्तुशास्त्र के आठ अंगों में सामुद्रिक शास्त्र, गणित शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, छन्द शास्त्र,

[1] समरांगणसूत्रधार, श्लोक संख्या 03 - 04, अध्याय 44

भूमिगत जल ज्ञान हेतु सिरा ज्ञान, शिल्पशास्त्र, यन्त्रकर्म तथा सभी प्रकार की विधियों का समावेश वास्तुशास्त्र में हो जाता है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही हमारा वास्तुशास्त्र समाज की दृष्टि में अत्यन्त आदरणीय रहा है तथा जीवन को सुव्यवस्थित व अनुशासनपूर्ण बनाने में वास्तुशास्त्र का सर्वाधिक योगदान रहा है।

स्थापत्य वेद ही उत्तरवर्ती काल में वास्तु शास्त्र के रूप में परिणित हुआ। वैदिक काल में भवनों का निर्माण ही वास्तु माना जाता था बाद में गृहों के विकास के साथ ही ग्राम, नगर एवं महानगरों का विकास भी होने लगा, इस प्रकार के सभी विकास वास्तु के अंतर्गत ही हुए जिसके चलते वास्तु के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भारतीय संस्कृति का मूल आधार देव तत्व है इस सन्दर्भ में यहां ध्यान रखना चाहिए कि देव तत्त्व ही प्राकृतिक शक्तियों का द्योतक है। हमारी संस्कृति में कोई भी कार्य बिना देव तत्व के प्रारंभ नहीं किया गया, कोई भी शास्त्र बिना देवत्व के पठनीय नहीं है, इसमें कोई भी कला बिना देवत्व के ग्राह्य नहीं हैं, जैसे नृत्य कला में नटराज शिव, संगीत में नादब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के पट चित्र तथा वास्तु में वास्तु पुरुष। हमारी संस्कृति सर्वत्र देव भावना से बधीं हुई है, अतः कह सकते हैं यही देवत्व भावना भारतीय स्थापत्य की विशेषता है। हमने कला और विज्ञान को अध्यात्म एवं दर्शन से अलग नहीं रखा। हमारी मान्यता के अनुसार कला का जन्म मनोरंजन से नहीं अपितु धर्म और दर्शन से हुआ है जो विज्ञान और कला अध्यात्म से शून्य तथा दर्शन से अनुप्राणित नहीं है वह कला एवं विज्ञान शुष्क काष्ठ की भांति जलाने योग्य एवं त्याज्य है। कला एवं विज्ञान आसुरी संपदा है उसे राक्षस नहीं बनने देना चाहिए इसलिए उसे भी देवत्व की भावना से सदैव अनुप्राणित रखना चाहिए, जिससे वह पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यावा, सूर्य चंद्र आदि के समान जन मंगल तथा जन रक्षण कर सके।

भारतीय वास्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म है और महान से भी महान है। गृह चिन्तन में अणोरणीयान् है तथा ब्रह्माण्ड के चिंतन में महतोमहीयान् है। अतः इस संदर्भ में मात्र गृह तक ही चिंतन करना अभिशाप होगा। वास्तुशास्त्र भारतीय संस्कृति का वह ओजस्वी अंग है जिसमें पार्थिव और अपार्थिव दोनों का संगम होता है, इस संदर्भ का यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि इस देश में भौतिक पक्ष को गौण माना गया, ऐसा नहीं है, हमने तो सदैव आध्यात्म एवं भौतिक को संतुलित रखा। भौतिक की उद्दाम गति का सदैव आध्यात्म से निरोध होना चाहिए तभी प्रक्रिया सनातन रह सकती है। अन्यथा भौतिकवादी भस्मासुर अपने जनक शिव को ही भक्षण करने का प्रयास करता है। इसलिए वास्तुशास्त्र में आवास निर्माण हेतु निर्धारित कये गये भूखण्ड पर समस्त प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों का तथा साथ ही पांचमहाभूतों का सामञ्जस्य बिठाकर ही आवास बनाना चाहिए जिससे कि वहां पर रहने वासे समस्त लोगों के जीवन में सर्वविध सुख प्राप्त हो सके। यही वास्तुशास्त्र का प्रमुख ध्येय है।

2.3 वास्तुशास्त्र में प्राकृतिक शक्तियों की अवधारणा

वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड की हर वस्तु का निर्माण आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी आदि पांच तत्वों से हुआ है जिन पर सर्वत्र तथा सर्वथा प्राकृतिक शक्तियों का प्रभाव रहता है और इन्हीं आकाशादि पंच महातत्त्व तथा प्राकृतिक शक्तियों का सामञ्जस्य किस प्रकार किया जाए यही वास्तुशास्त्र का मूल विषय है। वास्तव में प्रकृति के अनुरूप या प्रकृति के अनुसार किये गए कार्य का परिणाम ही हमारे लिए सर्वथा अनुकूल होता है। अन्य शब्दों में कहें तो यदि भवन या अन्य किसी भी प्रकार के निर्माण को यदि प्राकृतिक अनुकूलता मिले तो उसके फल भी

सर्वथा हमारे अनुकूल ही होंगे तथा इस प्रकार के प्रकृति अनुकूल किसी भी प्रकार के भवन निर्माण का उपयोग या उपभोग करने वाले व्यक्ति प्रकृति से सौहार्द अथवा सामञ्जस्य स्थापित होने के कारण किसी भी प्रकार के दोष से मुक्त होते हुए खुशहाल, सुविधा व सुरक्षा युक्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं। वास्तुशास्त्र की दृष्टि से समझें तो आकाशादि पंचमहाभूत वास्तुपुरुष तथा आवास हेतु चयन की गई भूमि पर सूर्य आदि पैंतालीस देवों की आराधना से मनुष्य अपने को समर्पित करते हुए इन देव रूपी शक्तियों का कृपापात्र बन जाते हैं। इन सब देव शक्तियों की कृपा दृष्टि से उस जातक की भूमि तथा उस भूमी पर प्रकार किया गया भवनादि का निर्माण सकारात्मक ऊर्जाओं से भरपूर हो जाता है। कोई व्यक्ति यदि वास्तुशास्त्रोक्त सिद्धान्तों के अनुसार भूमि का चयन कर उस पर रहने हेतु भवन या अन्य किसी प्रकार का निर्माण करे तो उसे प्रकृति, वास्तुपुरुष तथा शिखी आदि पैंतालीस देवताओं की शक्तियों का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इस शास्त्र में वास्तु पुरुष को एक प्राणमय पुरुष मानकर उसके आध्यात्मिक स्वरूप को पूरा-पूरा महत्व दिया गया है। यह सत्य है कि प्रशंसा, संतुष्टि एवं सेवा से किसी भी जीव, मनुष्य अथवा देवता को प्रसन्न कर उसकी कृपा प्राप्त की जा सकती है। तथा यह सब जानते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने वाले को जीवन में विविध कष्टों, समस्याओं, रोगों, दारिद्र आदि पीड़ाओं का सामना करना ही पड़ता है। यही इस वास्तुशास्त्र का रहस्य है। जो वास्तुशास्त्र के इस रहस्य को समझ गया वह अपने जीवन में उत्तम लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।

सरल शब्दों में कहें तो वास्तुशास्त्र आकाशादि पंचतत्त्वों, गुरुत्व-चुम्बक-सौर आदि तीनों शक्तियों, पूर्वादि आठों दिशाओं, सूर्यादि नवग्रहों, अश्विनी आदि सत्ताइस नक्षत्रों की गति-स्थिति तथा प्रभाव पर आधारित एक सुव्यवस्थित पराविज्ञान अथवा आध्यात्म विज्ञान है। वास्तव में प्रकृति के इन उपर्युक्त कारकों के संतुलन के अनुरूप आवासादि का निर्माण करना जिससे इन शक्तियों को भवन में संतुलित व व्यवस्थित रखकर व्यक्ति अपने जीवन को न केवल सुखमय बना सके अपितु सुरक्षित व सुविधायुक्त बनाने के साथ साथ जीवन में शान्ति भी रहे, यही वास्तुशास्त्र का ध्येय अथवा उद्देश्य है। वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में वास्तु पुरुष की उत्पत्ति की कथा भी एक वैज्ञानिक स्वरूप का ही प्रतिपादन करती है जिसमें किसी पदार्थ में स्थित शक्ति की अवस्थाओं को क्रमश समझाने का प्रयास किया गया है, यथा - एक बार भगवान शिव और अंधकासुर नामक राक्षस के मध्य युद्ध हुआ. इसमें भगवान शिव के शरीर से पसीने की एक बूंद भूमि पर गिरी जिससे एक विशाल एवं क्रूर प्राणी का जन्म हुआ जो धुंए के रूप में सर्वत्र व्याप्त होने लगा जिससे समस्त जगत में हलचल हो गई। समस्त देवता घबरा गए तब ब्रह्मा जी की आज्ञा से समस्त देवों ने उसे पकड़ कर पृथ्वी पर औंधे मुंह गिरा दिया, तथा जो - जो देवता उस राक्षस के जिस - जिस अंग पर विराजमान हुए उन उन स्थान अथवा अंग पर तत् सम्बन्धित देवता की शक्ति का प्रभाव उस स्थान पर आ जाता है यह समझना चाहिए। अंधकासुर का गिरते समय इसका सिर ईशान कोण में तथा उत्तर व पूर्व में कंधे, वायव्य व अग्नि कोण में कुहनियां, दोनों पैरों को मोड़े, कुहनियों को छूते हुए, नैऋत्य कोण में जुड़े हुए तलवे अथवा पैर हैं। तब इसके द्वारा ब्रह्मा जी की आराधना की गयी कि महाराज मेरी क्या गलती थी जो मुझे इस प्रकार दण्डित किया जा रहा है इस पर ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर उसे उस क्षेत्र का वास्तुपुरुष बनाया और आशार्वाद दिया कि तुम्हारी पूजा किए बिना किया गया हर प्रकार का निर्माण वहां रहने वाले व्यक्ति के जीवन में दारिद्र - कष्ट एवं अंधकार लेकर आएगा। इस प्रकार वह धुंध रूपी राक्षस समस्त प्रकार के निर्माणों में वास्तुपुरुष के रूप में

प्रथम पूज्य बन गया। वास्तुपुरुष के नियम विरुद्ध स्थापन पर उस पद के अधिकारी देवता अपनी प्रकृति के विपरीत प्रभाव देते हैं तथा यदि पद के स्वामित्व के अनुकूल स्थापना होती है तो अनुकूल फल प्राप्त होता है. ब्रह्मा के वरदान स्वरूप वास्तु पुरुष को पूजा का अधिकार मिला और यह कहा गया कि पृथ्वी पर निर्माण कार्य तभी सफल होंगे जब वास्तु पुरुष की पूजा होगी और बलि इत्यादि देकर उन्हें प्रसन्न किया जायेगा. यह वास्तु पुरुष ही वास्तु देवता हो गये। अब इस कथा के वैज्ञानिक आयाम पर भी दृष्टिपात करें तो यह पाते हैं कि जो शिव और अंधकासुर है उनमें हमारे लिए जो सकारात्मक अथवा कल्याणकारी शक्ति है वही शिव है तथा इसी प्रकार से जो नकारात्मक अथवा हमें हमेशा अंधकार में रखने वाली शक्ति ही अंधकासुर है। जब इन दोनों में संग्राम होता है तब सकारात्मक शक्ति द्रवीभूत होकर भूमि पर पसीने के रूप में गिरती है। फिर वही द्रवीभूत शक्ति धुंए के रूप में अर्थात् गैस के रूप में सर्वत्र व्याप्त होती है जिसे समस्त प्राकृतिक शक्तियां एकत्रित होकर अपने वस में करती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्व पहले ठोस के रूप में विराजमान था फिर उस में क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उर्जा उत्पन्न होती है फलस्वरूप वह ठोस पदार्थ द्रव के रूप में परिणत होता है फिर वही द्रव तत्त्व गैस के रूप में परिवर्तित हो जाता है, यही ठोस - द्रव - गैस के रूपान्तरण की कथा ही शिव अंधकासुर की कहानी है। वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथा से तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर हम घर बनाकर रहना चाहते हैं वह स्थान अंधकासुर नामक नकारात्मक प्रवृत्ति से आवृत्त होता है परन्तु उस स्थान पर सकारात्मक शक्ति जो कि कल्याणकारी शिव स्वरूप समस्त देवताओं में विराजमान होकर प्राकृतिक रूप से उस स्थान अथवा भवन पर समस्त प्रकार का नियन्त्रण कर हमें इच्छित सफलताएं प्राप्त करने में मदद मिलती है। इसी प्रकार वास्तुपदमण्डल के पैंतालीस देवताओं की शक्ति के अलावा कुछ अन्य प्राकृतिक शक्तियां भी हैं जो कि वास्तुक्षेत्र को निश्चित रूप से प्रभावित करती हैं।

वस्तुतः इस प्रकृति में अनन्त शक्तियां समाहित हैं जो कि अक्षुण्ण हैं तथा सदा विद्यमान हैं। वास्तव में इन्हीं शक्तियों के माध्यम से सृष्टि, विकास एवं प्रलय की प्रक्रिया चलती रहती हैं। सामान्यतया इन्हीं अनन्त शक्तियों में से वास्तुशास्त्र गुरुत्व शक्ति, चुम्बकीय शक्ति तथा सौर शक्ति अथवा सौर ऊर्जा आदि तीन प्राकृतिक शक्तियों का प्रमुखतया उपयोग करता है। साथ ही हमें यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि वास्तुशास्त्र अन्य प्राकृतिक शक्तियां जो कि इस ब्रह्माण्ड में अनन्त व अक्षुण्ण रूप में विराजमान हैं उन्हें भी नकारता नहीं है तथापि यह शास्त्र भवन निर्माण तथा उसमें रहने वाले प्राणियों को प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों की चिन्ता करता है इसलिए वास्तुशास्त्र भूमि - भवन एवं उसके आस - पास के वातावरण को प्रभावित करने वाली शक्तियों के बारे में ही विशेषरूप से विचार करता है।

2.4 वास्तुशास्त्र के अनुसार विविध प्राकृतिक शक्तियाँ

वस्तुतः ब्रह्माण्ड में घटने वाली घटनाएँ अनायास ही घटित नहीं होती है, बल्कि इनके पीछे सृष्टि के नैसर्गिक नियम कार्य करते है। ऐसे कुछ निश्चित नियम और सिद्धांत हैं, जो कि बड़ी प्राकृतिक घटनाओं को तो नियंत्रित करते ही है साथ ही हमारे मानव जीवन के सारे अनुभवों, परिस्थितियों और जीवन में होने वाली घटनाओं को भी नियंत्रित करते है। वास्तु शास्त्र ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण और बेहद प्रभावशाली नियमों पर आधारित विज्ञान है जिसे तार्किक दृष्टिकोण से समझे जाने की आवश्यकता है। वस्तुतः विज्ञान की एक विशेषता होती है कि चाहे आप इसे माने या ना माने लेकिन इसके नियम अपना कार्य करते है। इसी सातत्य में हमें वास्तु

शास्त्र को भी एक ऐसा ही विज्ञान मानना चाहिए। वैसे संसार में किसी भी चीज के अस्तित्व के लिए या किसी घटना के घटित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी हमें जानकारी हो। ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की अनगिनत घटनाएँ निरन्तर घट रही है जिनकी हम जैसे सामान्य मानव को कोई जानकारी नहीं होती है और हमारी (मानवों की) इस अज्ञानता से उन घटनाओं के अस्तित्व पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। वास्तु शास्त्र भी भवन निर्माण के सन्दर्भ में एक ऐसा ही विज्ञान है, जो कि किसी भवन अथवा आवास के अन्दर स्थित अदृश्य उर्जाओं और उनके द्वारा भवन में रहने वाले लोगों पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में हमें जानकारी प्रदान करता है। सामान्य रूप से हम यहां यह भी समझ सकते हैं कि हमारे चारों ओर विविध प्रकार की ऊर्जाओं के क्षेत्र (energy fields) विद्यमान हैं जो कि हमें निरंतर प्रभावित कर रहे है, इस सन्दर्भ में चाहे आपको जानकारी हो या नहीं, आप इसे स्वीकार करे या नहीं आपके घर में विद्यमान उर्जाये आपको निरंतर प्रभावित कर रही है। सामान्य रूप से समझें तो यह मानना चाहिए कि मनुष्य की क्षमता होती है तथा उसी क्षमता के अन्दर रहकर ही वह खुद पर पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के प्रभावों का पता लगा सकता है इससे इतर नहीं । वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड अथवा प्रकृति में अनन्त प्रकार की सूक्ष्म और वृहद् तरह की शक्तियां विराजमान हैं। अगर हम वैज्ञानिकों के अनुसार चिन्तन करें तो हमारे सुनने, देखने, सूंघने तथा अनुभव करने की क्षमता आदि का एक निश्चित दायरा है उससे परे हमारा सामर्थ्य नहीं है। उदाहरण के लिए जब अंतरिक्ष में घटी कोई विशाल खगोलीय घटना जिससे देखने - सुनने आदि में हम सर्वथा अक्षम हैं। हम संसार अथवा ब्रह्माण्ड में घटने वाली प्रत्येक घटना को अपनी ज्ञानेन्द्रीयों से समझने का प्रयास करते हैं परन्तु हमारी ज्ञानेन्द्रीयों की भी एक निश्चित सीमा रहती है जिससे परे हम जा नहीं सकते हैं परन्तु फिर भी ब्रह्माण्ड में विद्यमान अनन्त प्रकार की शक्तियां - ध्वनियां - ऊर्जाएं हमें निरन्तर प्रभावित कर ही रही हैं जिन्हें हम महसूस तक नहीं कर पा रहें हैं, परन्तु आज वैज्ञानिकों ने ऐसे बहुत से उपकरण बना लिए हैं जिनके माध्यम से हम विविध प्रकार की ऊर्जाओं - शक्तियों अथवा ध्वनियों को पहचानने में सफल हो सकते हैं। वास्तुशास्त्र द्वारा भी इसी प्रकार की अनन्त अदृश्य प्राकृतिक शक्तियों में समन्वय को साधने का कार्य किया जाता है जिन्हें हम किसी समय विशेष में महसूस भी नहीं कर सकते है। वास्तुशास्त्र के अनुसार इन अदृश्य नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक शक्तियों में असंतुलन की स्थिति में ये भवन अथवा वास्तुक्षेत्र में नकारात्मक परिणाम प्रदान करती है और इन प्राकृतिक शक्तियों में उचित तालमेल स्थापित होने पर यह व्यक्ति अथवा भवन में रहने वालों के लिए बेहद लाभदायक भी सिद्ध हो सकती है।

वस्तुतः वास्तुशास्त्र का उपयोग किसी भवन विशेष में स्थित प्राकृतिक ऊर्जाओं मे परस्पर समन्वय स्थापित कर भवन में सकारात्मक उर्जाओं का प्रवाह सुनिश्चित करने से है। अब प्रश्न उठ सकता है कि आखिर अलग-अलग वास्तु से बने भवनों में अलग-अलग प्रकार की विविध ऊर्जायें क्यों प्रवाहित होती हैं ? क्यों सभी में समान प्रकार की ऊर्जा का प्रवाह नहीं होता है? इसको समझने के लिए हम कह सकते हैं कि हमारे चारों ओर सतत सकारात्मक और नकारात्मक ऊर्जाये प्रवाहमान रहती है और ये ऊर्जाये स्थान और वातावरण विशेष की तरफ आकर्षित होती है। अर्थात् नकारात्मक स्थान अशुभ ऊर्जा और सकारात्मक स्थान शुभ ऊर्जा को अपनी तरफ खींचता अथवा आकर्षित करता है। उपरोक्त को हम उदाहरण से समझने के लिए एफ.एम रेडियो अथवा डिस टीवी की विविध फ्रीक्वेंसी से समझ सकते हैं कि रेडियो तथा डिस टीवी की अनन्त फ्रीक्वेंसी हमारे चारों और सतत प्रवाहित रहती हैं जिसकी

आवाज सुनने में हम सर्वथा अक्षम रहते हैं तथापि उपयुक्त यंत्र के माध्यम से हम उसी फ्रीक्वेंसी पर प्रसारित रेडियो कि ध्वनि को सुन सकते हैं अथवा डिस टीवी पर विविध चैनलों पर प्रसारित चलचित्र आदि को देख सुन सकते हैं। कुछ इसी प्रकार से हमारे आसपास के वातावरण में भी विविध प्रकार की प्राकृतिक ऊर्जायें निरन्तर प्रवाहित हो रही हैं जिन्हें आकर्षित करने के लिए हमें अपने घर के वास्तु को भी एक निश्चित फ्रीक्वेंसी पर स्थिर करना होता है। एक भवन का जब निर्माण होता है तो उसका वास्तु, उस घर के भीतर निवास करने वाले लोगों के लिए एक विशेष प्रकार की फ्रीक्वेंसी को तय कर देता है जो कि वहां के वातावरण विशेष के लिए निर्धारित ऊर्जाओं को ही अपनी तरफ आकर्षित करता है। जब कोई भवन वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के सम्मत होता है तो वह अपने आसपास में स्थित सकारात्मक ऊर्जाओं को अपनी तरफ आकर्षित करता है और गृह-निवासियों को शुभ परिणाम प्रदान करता है तथा जब तक वह फ्रीक्वेंसी बदलेगी नहीं तब तक उस भवन में आकर्षित होने वाली ऊर्जाएं भी सकारात्मक बनी रहेंगी और तदनुरूप ही शुभ और अशुभ परिणाम भी भवन में प्राप्त होंगे।

वस्तुतः विविध प्रकार की ऊर्जा अथवा शक्तियां जैसे सौर ऊर्जा (Solar Energy), चन्द्र ऊर्जा (Lunar Energy), पृथ्वी से निकलने वाली ऊर्जा (Earth Energy), पृथ्वी का घूर्णन (Rotation of Earth), पृथ्वी का परिक्रमण (Revolution of Earth), गुरुत्वाकर्षणीय शक्ति (Gravitational Energy), विद्युतीय ऊर्जा (Electric Energy), चुम्बकीय ऊर्जा (Magnetic Energy),पवन ऊर्जा (Wind Energy), तापीय ऊर्जा (Thermal Energy), ब्रह्माण्डीय ऊर्जा (Cosmic Energy) इत्यादि हमें सतत प्रभावित करती रहती हैं। प्रस्तुत इकाई में हम वास्तुशास्त्र में वर्णित **चुम्बकीय - गुरुत्वीय तथा सौर शक्ति** का विस्तृत रूप से विवेचन करेंगे जो कि निम्न है -

2.4.1 चुम्बकीय शक्ति

वैसे तो ब्रह्माण्ड एक चुम्बकीय क्षेत्र ही है तथा इस (ब्रह्माण्ड) में स्थित समस्त ग्रह - उपग्रह, नक्षत्र तारे आदि का परस्पर सम्बन्ध इस चुम्बकीय शक्ति द्वारा ही है। समस्त ब्रह्माण्डीय चेतना को प्रकृति की यह चुम्बकीय शक्ति तरंगों के माध्यम से संचालित एवं नियन्त्रित करती है। ब्रह्माण्ड में समस्त ग्रहों - उपग्रहों की तरहा हमारी पृथ्वी भी एक बहुत बड़ी चुम्बक ही है जो कि विगत करोड़ो वर्षों से अपनी कक्षा तथा अपनी अक्ष पर निरन्तर घूमते हुई सूर्य की परिक्रमां कर रही है। इस परिभ्रमण से पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति निरन्तर विकसित व उन्नत हो रही है।

वस्तुतःजिस प्रकार से चुम्बक के दो ध्रुव होते है उसी प्रकार हमारी पृथ्वी के भी उत्तरी व दक्षिणी दो ध्रुव स्थान हैं। एक चुम्बक को धागे की सहायता से लटकाने पर उसके छोर अथवा सिर याम्योत्तर अथवा उत्तर एवं दक्षिण में ही रुकते हैं अतः जो सिरा अथवा छोर उत्तर की तरफ रहता है वह चुम्बक का उत्तरी ध्रुव तथा जो सिरा चुम्बक के दक्षिण दिशा की तरफ रहता है वह शिरा चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव कहलाता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि किसी भी चुम्बक के एक सिरे के पास यदि अन्य चुम्बक के उसी सिरे को ले जाया जाता है तो दोनों चुम्बकों में परस्पर विकर्षण होता है तथा विपरीत सिरों को पास ले जाने पर दोंनों चुम्बकों में परस्पर आकर्षण होता है अर्थात् उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि दो अलग अलग चुम्बकों के उत्तरी ध्रुव अथवा दक्षिणी ध्रुवों को परस्पर पास लाया जाए तो सजातीयता के कारण दोनों सिरे परस्पर दूर भागते हैं तथा दोनों विजातीय सिरों को पास लाया जाये तो

परस्पर आकर्षण होता है अर्थात् दोनों चुम्बक परस्पर चिपक जाती है। अब यह सर्वविदित तथ्य है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक चुम्बक का ही तो रूप है तथा इस ब्रह्माण्ड में ग्रह - उपग्रह - तारे आदि विविध चुम्बकीय पिण्ड भी हैं तथा अपनी गति - स्थिति आदि के कारण इनमें परस्पर आकर्षण - विकर्षण होता है। इसी आकर्षण विकर्षण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय गतिविधियों से गतिशीलता आ जाती है जिससे की समस्त ब्रह्माण्ड प्रभावित होता है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब इस आकर्षण विकर्षण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभावित हो सकता है तो इसी ब्रह्माण्ड में तो हम भी रहते हैं तो हम अर्थात् जीव जगत भी उस चुम्बकीय स्पन्दन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। अर्थात् हम भी ब्रह्माण्डीय स्पन्दन से सतत प्रभावित होते रहते हैं। परन्तु इस प्रभावशीलता का अनुमान सामान्य मानव के सामर्थ्य से बाहर की बात है। यह तो भारतीय सनातन संस्कृति की पुरातन धरोहर हमारे ऋषियों मुनियों के ही सामर्थ्य की बात थी, हमारे ऋषियों ने अपने धैर्य, एकग्रता, विश्वास, साधना, तपस्या, तटस्थता, द्वारा अपनी आन्तरिक चेतना को विकसित किया तथा अपनी **अन्तश्चेतना** के माध्यम से प्रकृति की शक्तियों और सृष्टि अथवा ब्रह्माण्डीय रहस्यों का साक्षात्कार कर जन - जीवन में उनका उपयोग करने के नियमों का भी समाज के कल्याण हेतु प्रतिपादन किया। वास्तव में बुद्धि - मेधा - धैर्य - प्रज्ञा - तटस्थता और विश्वसनीयता की एकरूपता ही अन्तश्चेतना है, यह अन्तश्चेतना या अन्तर्दृष्टि जिनके पास होती है वे देश एवं काल से अतीत होकर तथ्य एवं सत्य दोनों का साक्षात्कार कर लेते हैं, यह अन्तश्चेतना भृगु,अत्रि,वशिष्ठ,नारद,कश्यप,शौनक एवं गर्गादि आचार्यों के ही बस की बात थी, कि उन्होंने प्रकृति की शक्तियों और अनन्त ब्रह्माण्डीय रहस्यों को जानकर जीवन को सुविधाजनक बनाने के विविध उपयोगी नियमों का प्रदिपादन वास्तुशास्त्र के नाम से किया।

हमारे ऋषि तथा आचार्यों ने यह पहले ही जान लिया था कि पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति से हम कैसे प्रभावित होते हैं इसलिए ही तो हमारे पूर्वज पहले से यह बताते आ रहे हैं कि शयन के समय हमारा सिराहना उत्तर की तरफ नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे हमारे शरीर का चुम्बकीय बल पृथ्वी का चुम्बकीय बल परस्पर विपरीत दिशा में प्रवाहित होगा जिससे शरीर में विविध प्रकार के विकार आने की संभावना रहती है। क्योंकि पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव और शरीर के उत्तरी ध्रुव सिर की एक ही तरफ दिशा होने से परस्पर विकर्षण उत्पन्न होना स्वाभाविक है जिससे शरीर के रक्त संचार में बाधा होने से अनिद्रा, सिर दर्द, तनाव, दुःस्वपन एवं विविध प्रकार के वात से सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए उत्तर दिशा की ओर सिर नहीं करके सोने की प्रथा पहले से ही प्रचलित रही है जो कि पूर्णतया वैज्ञानिक भी है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही वास्तुशास्त्र में घर के उत्तर दिशा में सबसे अधिक खुला स्थान छोड़ना तथा इसी दिशा अर्थात् भवन की उत्तर दिशा की तरफ ही खिड़की, झरोखे, द्वार आदि का अधिक निर्माण किया जाता है। साथ ही उत्तर दिशा मे भूमि का प्लव होना, इस दिशा में भवन की उचाई का कम होना दक्षिण में भवन की उंचाई का अधिक होना, उत्तर में ऊंचे ऊंचे वृक्षों का अथवा बड़े बड़े ऊंचे भवनों का होना भी निषेध कहा गया है अर्थात् ये सब उपर्युक्त नियम वास्तुशास्त्र के अनुसार आवासीय भवनों में चुम्बकीय शक्ति के उपयोग के लिए ही प्रतिपादित किये गये हैं।

2.4.2 गुरुत्वीय शक्ति

वस्तुतः पंचभूतात्मक इस जगत में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि पांच प्राकृतिक गुण हमारी

पृथ्वी में पाये जाते हैं ठीक इसी तरह इस पृथ्वी में गुरुत्व शक्ति तथा चुम्बकीय शक्ति भी पायी जाती हैं जिनमें से गुरुत्वशक्ति प्रमुख है जिस हम गुरुत्वाकर्षण बल के नाम से जानते हैं। जिस गुरुत्वाकर्षण शक्ति का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी में कोई आकर्षण शक्ति उपस्थित है जो आकाश में स्थित सभी पदार्थों को अपनी तरफ आकर्षित करती है। अर्थात् सरल शब्दों में कहें तो आकाश में स्थित वजनी वस्तुओं पृथ्वी इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण अपनी ओर खींच लेती है यही गुरुत्वाकर्षण है इस सिद्धान्त प्रतिपादन भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में भी स्पष्ट किया है।[2] भास्कराचार्य जी के इस सिद्धान्त को यदि अत्यन्त संक्षिप्त रूप में समझें तो यह समझ में आता है कि गुरुत्वाकर्षण में एक शब्द गुरुत्व है, जिसका शाब्दिक अर्थ है वजन से युक्त तथा द्वितीय शब्द है आकर्षण अर्थात् खीचाव, इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह पृथ्वी, जो भी वजनी वस्तु अथवा पदार्थ होगा उसे अपनी ओर खीचती हैं यही इस सिद्धान्त का सार है। जैसे कि यदि हम किसी वजनी वस्तु को उचाई से हवा में गिराए तो वह वस्तु पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण भूमि पर गिर जाती है।

सामान्यतया पृथ्वी की यह गुरुत्व शक्ति न केवल इसके ऊपर निर्माण किये जाने वाले भवनादि को स्थिरता तथा स्थायित्व प्रदान करती है, अपितु यह शक्ति जीव जगत के समस्त क्रिया कलापों को गतिशीलता भी प्रदान करती है। इस सन्दर्भ में हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अगर भूमि में यह गुरुत्व शक्ति नहीं हो तो जीवन कैसा होगा ? स्थिति स्पष्ट है तब संसार में अन्तरिक्ष की तरह गतिशून्यता के कारण सब कुछ हवा में ही तैरता रहता रहता जिससे इस भूमि पर भवन - गांव - नगर - राज्य आदि का निर्माण लगभग असम्भव ही रहता।

भारतीय वास्तुशास्त्र में भूमि की इस गुरुत्वशक्ति को ध्यान में रखकर ही मन्दिर,आवास अथवा व्यावसायिक उद्देश्य हेतु बनाये जाने वाले भवनों के स्थायित्व का वर्गीकरण भी किया गया है। इस सन्दर्भ में कुछ आचार्यों ने निर्माण सामग्री के आधार पर झोंपड़ी या पर्णकुटी - मिट्टी से निर्मित कच्चे घर - ईंट अथवा चूने से निर्मित पक्के घर - पत्थर से बने पक्के घर आदि चार प्रकार के भवनों के बारे में बताया है। साथ ही भवन निर्माण को पुण्य फल से जोड़ दिया गया ताकि जन सामान्य भावनात्मक रूप से भी जुड़ सकें इस सन्दर्भ में आचार्य कहते हैं कि अगर आपने अपने घर को घास फूंस अथवा पत्तो से बनाया है तो करोड़ गुना पुण्य फल प्राप्त होता है तथा मिट्टी आदि से कच्चा घर बनाया है तो पूर्व से दशगुणा अर्थात् दश करोड़ गुना पुण्यफल प्राप्त होगा साथ ही अगर आपने अपना घर ईंट या चूने आदि से पक्का घर बनाया है तो पूर्व का दश गुणा अधिक अर्थात् सौ करोड़ गुणा पुण्य फल प्राप्त होगा ठीक इसी तरह यदि घर पत्थर आदि से बनाया गया है तो कहते हैं कि अनन्त गुणा फल प्राप्त होता है।[3] इस प्रकार के निर्माण स्थायित्व, परिणाम एवं रखरखाव की दृष्टि से पर्णकुटि से मिट्टी से बने कच्चे घर फिर ईंट या चूने से बने घर फिर पत्थर से बने घर उत्तरोत्तर अधिक टिकाऊ और सुविधा जनक रहते हैं। कुछ आचार्यों ने निर्माण सामग्री के आधार पर बने घरों के पांच भेद किये हैं जिनमें पूर्वोक्त चार के अलावा पांचवा मिट्टी, छप्पर या खपरेल से बने घर भी कहे हैं। निर्माण सामग्री के आधार पर बनने वाले भवनों में अधिक टिकाऊपन या स्थायित्व के साथ साथ सुविधा भी होती है। कारण स्पष्ट है कि जो चीज जितनी ठोस और वजन से युक्त होगी वह पृथ्वी कि गुरुत्वशक्ति के

---

[2].आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत्खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते ………..
सिद्धान्तशिरोमणि,गोलाध्याय

[3] कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्। ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैले अनन्तं फलं गृहे॥ बृ.वास्तुमाला श्लोक क्रमांक 05

प्रभाव के कारण उतना ही स्थायित्व प्रदान करेगी।

वास्तुशास्त्र में पृथ्वी की इस (गुरुत्वाकर्षण) शक्ति का उपयोग न केवल भवन निर्माण की सामग्री मात्र में ही नहीं किया गया है अपितु भवन निर्माण में उपयोग लिये जाने वाले भूखण्ड की मिट्टी के घनत्व की जांच में भी किया जाता है। इस सन्दर्भ में समझें तो भूमि पर किसी भी निर्माण से पूर्व उस पर खात किया जाता है। तथा वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों में कहा गया है कि भूमि में खात करते समय यदि चींटी, मेंडक, दीमक, सर्प, भूसा, हड्डी,राख,कोयला, कौड़ी, अण्डे, कपास, जली काष्ठ, खप्पर, हथियार, या लोहा आदि मिले तो वहां भवन नहीं बनाना चाहिए।[4] उपर्युक्त का तात्पर्य यह है कि अगर भवन निर्माण करते समय भूखण्ड में जब खात करते हैं तो इन चीजों के मिलने से यह स्पष्ठ हो जाता है कि उस भूखण्ड की मिट्टी ठोस नहीं है जिससे उसमें स्थायित्व नहीं है। अगर वहां घर बनाया तो मिट्टी पोली होने के कारण घर बन नहीं पायेगा और बन भी गया तो बालु या रेत के ढेर पर बने हुए घर की तरह यहां भी वह घर क्षण भंगुर अर्थात् टिक नहीं पायेगा। शायद इसीलिए वास्तुशास्त्र के आचार्य, खात की विधि के माध्यम से धरातल व भवन निर्माण की सामग्री के आधार पर भवन के स्थायित्व का विचार करते हुए पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का समुचित उपयोग करने का शास्त्रीय प्रयास करते हैं, क्योंकि विद्वता इसी में है कि प्राकृतिक शक्ति के हिसाब से सन्तुलन बनाकर अगर हम रहेंगे तो जीवन में स्थायित्व रहेगा अन्यथा सब क्षणभंगुर ही हैं।

2.4.3 सौर शक्ति

जगत को प्रकाशित करने वाले भुवन भास्कर भगवान सूर्य पृथ्वी को प्राप्त होने वाली ऊर्जा का सर्व प्रमुख स्रोत है। सूर्य न केवल भूमि का अपितु इस नभोमण्डल में स्थित सौर परिवार में ऊर्जा का प्रमुख केन्द्र भी है। सूर्य अपनी किरणों के माध्यम से भूमि पर ऊर्जा, ताप (ऊष्मां) तथा प्रकाश देकर जीव जगत को गतिशीलता प्रदान करता है। सूर्य से निरन्तर निकलने वाली विकिरणों को वैज्ञानिक प्रमुखतया निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित करते हैं -

01. सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणें।
02. वर्णक्रम प्रकाश
03. रक्त आभा युक्त किरणें।

इनमें से पराबैंगनी किरणें शीतल रहती हैं तथा इन किरणों में वातावरण में मौजूद विषाणुओं को नष्ट करने की एक विशेष प्रकार की रासायनिक क्षमता होती है। द्वितीय प्रकार के वर्णक्रम प्रकाश में इन्द्रधनुष के सात रंगों की रश्मियां होती हैं जिनका वर्ण क्रम क्रमशः बैंगनी-नीला-आसमानी-हरा-पीला-नारंगी और लाल होता है। इन सात रंग की रश्मियों का प्रभाव भी पृथक पृथक रूप से प्राप्त होता है। इनमें मुख्य रूप से बैंगनी - नीले व आसमानी रंग की रश्मियों में अन्य वर्ण की रश्मियों की तुलना में मृदुता या शीतलता होती है तथा ज्यों ज्यों बैंगनी से लाल रंग की किरणों या रश्मियों की तरफ बढ़ते हैं त्यों त्यों शीतलता का ह्रास होता जाता है तथा

[4] पिपीलिका षोडषपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता। तुषास्थिचीराणि तथैव भस्माण्डानि सर्वा मरणप्रदा स्युः ॥
वराटिका दुःखकलिप्रदात्री कार्णस एवाति ददाति दुःखम्। काष्ठं प्रदग्धं त्वतिरोग भीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शनेन ॥
लौहेन कर्तुर्मरणं निगद्य विचार्य वास्तु प्रदिशन्ति धीराः ॥ बृ. वास्तुमाला श्लोक क्रमांक 114-115

ऊष्णता की वृद्धि होती है। इनमें भी नारंगी व लाल रंग की किरणों में ऊष्णता अधिक होती है। इसी प्रकार सूर्य की तृतीय प्रकार की किरण रक्त आभा युक्त किरणें अर्थात् रक्ताभ किरणें अपने आप में सर्वाधिक ऊष्णता समेटे रहती हैं।

वस्तुतः प्रातः कालीन सूर्य की किरणों सूर्य की प्रथम प्रकार की पराबैंगनी किरणों की अधिकता रहती हैं तथा रक्ताभ किरणें अत्यन्त कम मात्रा में रहती हैं इसलिये ही प्रातः कालीन किरणें ऊष्णता से युक्त न होकर शीतल रहती हैं। प्रातः कालीन सूर्य की किरणों में हमारे शरीर को पोषक विटामिन जैसे तत्त्व रहते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिए हितकर रहती तथा पराबैंगनी किरणों के माध्यम से हमारे आसपास का वातावरण भी शुद्ध हो जाता है। सरल शब्दों में कहें तो जिस प्रकार से मानव प्रातः काल शयन के उपरान्त अपने घर की झाड़ पौछ कर साफ सफाई करते हैं ठीक इसी तरह ये पराबैंगनी किरणें भी समस्त भू मण्डल में व्याप्त विषाणुओं का प्रातःकालीन बैला में ही एक प्रकार से झाड़ पौछ कर सफाया कर देती है जिससे भूमि का वातावरण साफ व शुद्ध बन जाता है। इसके बाद धीरे धीरे दिन चढ़ना शुरु करता है तथा सूर्य की किरणों में रक्ताभ (इन्फ्रारेड) किरणों की मात्रा बढ़ने लग जाती है जिससे धूप में गर्मी व तेजी बढ़ती है। इसी प्रकार धीरे धीरे दिन के तृतीय प्रहर में सूर्य की धूप में स्थित रक्ताभ किरणें बहुत तेज व ऊष्ण हो जाती है जो कि असहनीय हो जाती है। इसलिए ऐसी किरणों से बचाव आवश्क है नहीं तो नुकशान हो सकता है।

वास्तव में इस धरा धाम पर जीव जगत में जीवन अथवा प्राण का मुख्य आधार सूर्य ही है। जहां पर सूर्य की किरणे नहीं पहूंचती वहां एक तृण तक नहीं उगता है। सूर्य न केवल पृथ्वी आदि ग्रहों को अपने चारों ओर घुमाता है अपितु भूमि पर हमारी समस्त गतिविधियों का सूत्रधार भी है। प्राणीमात्र की दिनचर्या का प्रारम्भ सूर्योदय से और उपसंहार सूर्यास्त के साथ होता है। यदि इस ब्रह्माण्ड में सूर्य नहीं होता तो पृथ्वी भी नहीं होती तथा पृथ्वी नहीं होती तो हमारे जैसे प्राणीयों का भी जीवन असम्भव ही था। इसलिए भगवान वेद सूर्य को जगत की आत्मां के रूप में उद्घोषित करते हैं।[5]

वस्तुतः सूर्य का व्यास 8,65,680 मील है। इसकी पृष्ठीय परिधि से से इसकी ज्वाला है 200 से 300 मील प्रति सेकंड की गति से लगातार ऊपर की ओर लपकती रहती है इसका बिंब प्रति सेकेंड 3.6×10^{26} वाट शक्ति जगत को देता है जिसका दो सौ करोड़वां भाग पृथ्वी ग्रहण करती है। इससे आप सौर ऊर्जा की शक्ति का अनुमान कर सकते हैं।[6]

सामान्यतया हम जानते हैं कि सूर्य की ऊर्जा में उसकी ऊष्मां व प्रकाश दोनों ही अन्तर्निहित है। जिससे हमारे तन,मन एवं जीवन को सतत शक्ति और स्फूर्ति तो मिलती ही है साथ में इससे हमारी दिनचर्या व्यवस्थित और संचालित होती है साथ में सूर्य की ऊर्जा हमें नियन्त्रित भी करती है। इसलिए हमारे वास्तुशास्त्र के सभी आचार्यो ने इस सन्दर्भ में विभिन्न नियमों का प्रतिपादन किया है जिससे हमारे जीवन में आरोग्यता आ सके तथा साथ में ही सुख सम्पन्नता को प्राप्त कर सकें ।

सूर्य की ऊर्जा के समुचित उपयोग हेतु हमारे आचार्यो ने विविध नियम भी बताये हैं, जैसे प्रातःकाल के समय सूर्य का प्रकाश भवन और आंगन में प्रसारित हो तो सूर्य की तरफ से आने

[5] सूर्यो आत्मां जगतस्तस्थुषश्च, उद्धृत भारतीय वास्तुशास्त्र, शुकदेव चतुर्वेदी पृष्ठ 26

[6] उद्धृत, भारतीय वास्तुशास्त्र, पृष्ट संख्या 27, शुकदेव चतुर्वेदी।

वाली महत्वपूर्ण पराबैंगनीं किरणों के प्रभाव आये लोगों को लाभ प्राप्त होगा। इसके लिए हमें घर की पूर्व दिशा को खाली छोड़ना होगा तथा इस तरफ अगर दीवार आदि है तो खिड़की झरोखे आदि बनाने चाहिए तथा पूर्व दिशा में बड़े बड़े वृक्ष भी नहीं लगाने चाहिए। अगर इन नियमों का लोग पालन करेंगे तो उन्हें सूर्य की ओर से आने वाली उष्म या प्रकाश अथवा पराबैगनीं किरणों से वहां रहने वाले लोगों को इसका अद्भुत लाभ होगा ही।

2.5 सारांश

हमारी सनातन संस्कृति के महान आचार्यो ने प्रकृति एवं सृष्टि के रहस्यों का साक्षात्कार कर हमारे हमारे जीवन में प्रकृति की शक्तियों का उपयोग करने के लिए वास्तुशास्त्र के विविध नियमों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वास्तव में विज्ञान अपनी प्रारम्भिक दशा में होने के कारण इन नियमों एवं सिद्धान्तों का सम्पूर्ण विवेचन नहीं कर पाता। धीरे - धीरे वैज्ञानिक अनुसंधानों में जैसे - जैसे परिपक्वता आयेगी, हमें वास्तुशास्त्रीय नियमों की अच्छी और तर्कसंगत वैज्ञानिक व्याख्या मिल जायेगी।[7]

वस्तुतः प्रकृति अथवा ब्रह्माण्ड में अनन्त प्रकार की शक्तियों का अक्षुण्ण भण्डार हैं। जिनमें से विविध प्रकार की शक्तियों का हमारे शरीर व मन के उपर सीधा प्रभाव पड़ता रहता है। साथ ही इस सृष्टि में मुख्य शक्ति अथवा ऊर्जा जैसे चुम्बकीय - गुरुत्वीय - सौर शक्ति आदि का प्रभाव हमारे ऊपर अथवा हमारे भवन के ऊपर सतत प्रभाव पड़ता है। इनमें से चुम्बकीय शक्ति का सम्बन्ध ध्रुवीय शक्ति से होता है जो कि ग्रहमण्डल को अपने नियन्त्रण मे रखता है अर्थात् चुम्बकीय शक्ति ही वह शक्ति है जिसके कारण सभी ग्रह अपनी अपनी कक्षा व अक्ष पर निरन्तर घूमते रहते हैं। साथ ही गुरुत्वीय शक्ति हर पिण्ड की अपनी शक्ति होती है। गुरुत्वीय शक्ति के कारण हम तथा हमारे भवन, वृक्षादि सभी वस्तुएं पृथ्वी से निरन्तर जुड़े हुए रहते हैं। अगर गुरुत्वीय शक्ति नहीं होती तो भूमि पर हमारा अस्तित्व ही नहीं होता। इसी प्रकार सौर शक्ति का महत्व भी हमारे जीवन में अत्यधिक है, सौर शक्ति हमारी जीवनी शक्ति का प्रतीक है। सौर शक्ति है इसलिए हम सभी जीवित हैं। सौर शक्ति अथवा सौर ऊर्जा की उपलब्धता से ही पृथ्वी पर समस्त प्रकार की गतिविधियां चलती हैं।

2.6 शब्दावली

अक्षुण्ण - जिसका कभी क्षय नहीं हो, **अनन्त** - जिसका अन्त नहीं हो, **अदृश्य** - जो दिखाई नहीं दे, **याम्योत्तर** - दक्षिण व उत्तर, **आकर्षण** - परस्पर खिचाव, **विकर्षण** - परस्पर दूर भागना, **सजातीयता** - एक प्रकार की गुणधर्मिता, **विजातीयता** - भिन्न प्रकार की गुणधर्मिता, **सर्वविदित** - जिसे सभी जानते हैं, **अन्तश्चेतना** - हृदय में स्थित भाव, **अनिद्रा** - नींद का नहीं आना, **क्षणभंगुर** - कुछ क्षणों के लिए, **नभोमण्डल** - आकाश, **वर्णक्रम** - रंगो का क्रम, **ऊष्णता** - गर्मी, **रक्ताभ** - लाल रंग की आभा, **पृष्ठीय परिधि** - ऊपरी सतह।

2.7 उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय वास्तुशास्त्र** - लेखक प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी, श्री ला. ब. शा.रा. स. वि. नई

[7] उद्धृत भा.वास्तुशास्त्र, शुकदेव चतुर्वेदी पृ.27

दिल्ली।

2. **बृहद्वास्तुमाला-** व्याख्याकार- श्रीरामनिहोर द्विवेदी, प्रकाशक - चौ. सु. प्र. -वाराणसी।
3. **वास्तुरत्नावली-** व्याखाकार- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', प्रकाशक - चौखम्बा ओरि. दिल्ली
4. **वास्तुसार -** व्याख्याता- प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी जी, प्रकाशक -ईस्टर्न बुक लिंकर्स- दिल्ली
5. **बृहद् भारतीय कुण्डली विज्ञान -** सत्यदेव शर्मा, प्रकाशक - जगदीश सं. पुस्त.- जयपुर
6. **सूर्यसिद्धान्त-** श्री कपिलेश्वर द्विवेदी, प्रकाशक - चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
7. **भारतीय ज्योतिष -** नैमिचन्द शास्त्री, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ- दिल्ली
8. **विश्वकर्माप्रकाश-** चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन- वाराणासी।
9. **सिद्धान्तशिरोमणि-** आचार्य भास्कर- सं. बापूदेव शास्त्री- चौ. सं. सी. ऑफिस वाराणसी

2.8 बोध प्रश्न

1. वास्तुशास्त्र की सामान्य अवधारणा को समझाएं।
2. वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में प्राकृतिक शक्तियों की अवधारणा को स्पष्ट करें।
3. सौर शक्ति को विस्तृत रूप से समझाएं।
4. चुम्बकीय शक्तियों पर सविस्तार टिप्पणीं लिखें।
5. वास्तुशास्त्र के परिप्रेक्ष में गुरुत्वीय शक्ति पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालें।

इकाई 3 देश की अवधारणा

इकाई प्रारूप

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको :

- देश चयन की अवधारणा का ज्ञान हो सकेगा।
- निवास हेतु भूमि चयन की अवधारणा का ज्ञान हो सकेगा।
- भूमि चयन की विविध विधियों में काकिणी का विचार कैसे किया जाता है यह ज्ञान हो सकेगा।
- ग्रामवास में नराकृतिचक्र के माध्यम से भूमिचयन की विधि का ज्ञान हो सकेगा।
- नामराशि से ग्रामवास का शुभाशुभत्व का ज्ञान हो जाएगा।
- नामाक्षर के अनुसार ग्रामवास का बोध हो सकेगा।
- ग्रामवास के सन्दर्भ में शिवाबलि के अनुसार भूमिचयन के शुभाशुभत्व का बोध हो सकेगा।

- अक्षांश द्वारा देश चयन की अवधारणा का बोध कर सकेंगे।
- देशान्तर द्वारा देश चयन को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

वस्तुतः हम सब जानते हैं कि देश अथवा स्थान के बिना हम दिक् और काल का ज्ञान ही नहीं कर सकते हैं। अर्थात हम कह सकते हैं कि दिक् और काल का आधार देश ही है। देश के भेद से काल में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। अतः भारतीय वास्तुशास्त्र की समृद्ध परम्परा में इन दिग्, देश और काल तीनों का समग्र चिन्तन किया जाता है जिस में देश का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि देश से ही निर्माण प्रक्रिया का शुभारम्भ होता है। अतः वास्तुशास्त्रानुसार सर्वप्रथम स्थान (देश) चयन के उपरान्त दिक् के शुभाशुभत्व का विचार किया जाता है। अतः शास्त्रानुसार देश और काल की शुद्धता के आधार पर ही वास्तु का विधान होना चाहिए। वास्तु के ग्रन्थों में दिक्-देश आदि विषयों पर विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। सामान्यतया देश का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष अथवा स्थान विशेष से है जिसमें वास्तुनिर्माण किया जाना है। काल का सम्बन्ध समय (टाइम) से है। क्षेत्र अथवा देश का निर्धारण अक्षांश व देशान्तर के आधार पर होता है। प्रकृति जनपद एवं जलवायु को दृष्टि में रखकर देश- भूमि चयन किया जाता है। राजधानी स्थान निवेश के सम्बन्ध में आचार्य शुक्र कहते हैं कि "अपनी राजधानी राजा ऐसी जगहा बनावे जहां नाना प्रकार के वृक्ष और लता हों और पशु और पक्षीयों के गण से युक्त देश हो और जिसमें काष्ठ और तृण का सुख हो और समुद्रपर्यन्त नाव के गमन का जहां अनुकूल हो और जहां पर्वत समीप हो रमणीक और सम भूमि हो जहां हो" [1]। शुक्राचार्य के इन वचनों के सदृश वास्तुशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने भी स्थान चयन के सम्बन्ध अपने अभिमत प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत इकाई में हम देश अथवा भूमि चयन की अवधारणा को विस्तृत रूप में समझेंगे।

3.2 देश / स्थान की सामान्य अवधारणा

वास्तु के प्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर ने अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में वास्तु का परिचय दिया है, जिस में देश का विशद् वर्णन किया है। वस्तुतः हम सभी जानते हैं कि यह भूमि हमारी माता है और हम सभी इसकी सन्तति है।[2] अतः हम कह सकते हैं कि यह भूमि ही हमारा आधार है। साथ ही यह भी सर्वविदित है कि आखिल ब्रह्माण्ड में पंचमहाभूतों की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है इसलिए इन पंचमहाभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के बिना इस सम्पूर्ण चराचर जगत की कल्पना करना भी असम्भव है। अतः हम कह सकते हैं कि पृथ्वी अर्थात् देश एक ऐसा तत्व है जहां पर जल-अग्नि-वायु- आकाश भी आनुपातिक रूप में तो विराजते ही हैं साथ ही इस धरा धाम (पृथिवी) को प्रकृति की तीन मुख्य शक्तियां गुरुत्व-चुम्बकीय - सौर शक्ति भी सतत प्रभावित करती हैं। अतः हम इस अखिल ब्रह्माण्ड में देश/भूमि के महत्व को किसी भी प्रकार से नकार नहीं सकते हैं। **देश के भेद से काल में तो भेद होता ही है** साथ में व्यक्ति -व्यक्ति में भी हम भेद को देखते और समझते आये हैं। हम व्यक्ति के रूप रंग वेशभूषा वाणी आदि के अनुसार यह समझ जाते हैं कि इस व्यक्ति का सम्बन्ध इस देश

---

[1]. **शुक्रनीति 1/12,13**

[2]. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, पृथिवी सूक्त श्लोक 12

से है। अतः मानव अपने किसी भी प्रकार के आश्रयस्थल अर्थात् निमार्ण सम्बन्धित कार्य गृह-मन्दिर- ग्राम नगर-पुर आदि के लिए सर्वप्रथम भूमि पर ही निर्भर है। अतः कहा भी गया है - **पूर्वं भूमि परीक्षेत पश्चाद वास्तुं समारभेत,** देश-काल एवं परिस्थिति अथवा वातावरण के अनुसार भूमि के आकार प्रकार गुण आदि में भी बदलाव आते रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद अथवा वास्तुशास्त्र में भूमि की विशद व्याख्या देखने को मिलती है। वहां हमे भूमि शोधन की अनेक विधियां प्राप्त होती है। भूखण्ड चयन के सिद्धान्त तथा आसपास का वातावरण आदि का अध्ययन देश अध्ययन के अन्तर्गत आता है। जैसे भूमि का गुण-प्रकार -प्रकृति-आसपास की भूमियां, पेड़-पौधे, नदी-तालाब, पर्वत- चट्टान आदि को मिलाकर इनका विचार ही भूमि का अध्ययन कहलाता है। इन्हीं समग्र विचारों के अध्ययन को हम स्थान या देशविचार के नाम से जानते है।

3.3 देश और भूमि का विवेचन

जैसा कि हम चर्चा कर चुके हैं यह विषय अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद[3] अर्थात् वास्तुशास्त्र का विषय है। जिसमें एक निश्चित भूखण्ड को भूमि के रूप में मानकर उस पर निमार्ण कार्य किया जाता है। वह निर्माण क्षेत्र जिस वातावरण में अथवा जिस भौगौलिक परिस्थित में होता है उसी स्थिति को स्थान के नाम से जाना जाता है। उदाहरण स्वरूप यदि हम किसी क्षेत्र विशेष की चर्चा करते है अथवा उस क्षेत्र विशेष की स्थिति को जानना चाहें कि वह स्थान कहां है तो हम दो प्रकार से जान सकते हैं, यथा एक तो हम उस क्षेत्र के आस-पास की स्थिति परिस्थिति को जानकर तथा दूसरा वहां के अक्षांश और देशान्तर की स्थिति के अनुसार, इस तरह यहां हम यह भी कह सकते हैं कि स्थान अथवा देश एक ऐसी सत्ता है जिसे हम किसी सामान्य परिभाषा के शब्दों में बांध नहीं सकते, वस्तुतः व्यापक अवयवों के साथ देश का अर्थ भी व्यापक हो जाता है। जैसे हम भारत देश की बात करें तो अपने आप में बहुत विस्तार से युक्त असंख्य अवयवों को अपने आप में समेटे हुए हैं। इसलिए भारत एक व्यापक स्थान है। अब इस भारत देश के अन्दर किसी नियत स्थान की बात करें तो दिल्ली एक अन्य स्थान है। फिर दिल्ली में किसी जगह जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय है तो हम कहेंगे कि इस विश्वविद्यालय का भूखण्ड दिल्ली में स्थित है। अथवा भौगोलक दृष्टि से भी हम अक्षांश व देशान्तर के माध्यम से कह सकते है कि यह विश्वविद्यालय इतने अक्षांश व देशान्तर विशेष पर स्थित है। जैसा कि हमें विदित है वास्तुशास्त्र में किसी देश अथवा उस क्षेत्र के भूखण्ड के शुभाशुभ का परिज्ञान उस स्थान के आधार पर किया जाता है। उस स्थान अथवा क्षेत्र विशेष में स्थित पंचमहाभूतों तथा सौर ऊर्जा- चुम्बकीय शक्ति व गुरुत्वीय शक्तियों का परस्पर सामंजस्य व समन्वय के आधार पर ही हम उस देश अथवा क्षेत्र विशेष के शुभाशुभत्व को समझ सकते हैं। क्योंकि उस स्थान के शुभाशुभ का सर्वप्रथम प्रभाव भूमि पर ही पड़ता है। अतः वास्तुशास्त्र में देश को बहुत महत्वपूर्ण बताया है। इन सब बातों से अलग हटकर गर्गादि आचार्यो ने देश के सन्दर्भ में यह तक कह दिया है कि जिस देश अथवा भूमि पर जाते ही हमारे नेत्र व मन प्रफुल्लित हो जाए उस भूमि पर ही गृहादि का निर्माण करना चाहिए। यथा बृहद्वास्तुमाला में कहा भी है

मनश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि ।

[3]. वेदशाखापर्यायलोचनम् कात्यायनकृतश्च संस्कृतव्याख्यया समलंकृतः चरणव्यूहः पृष्ठम् -71,चौखम्भा विद्याभवन,वाराणसी,संस्करण – 2001.

तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।।[4]

इसी प्रकार वास्तुशास्त्र में भूमि के शुभाशुभत्व के सन्दर्भ में धन ऋण (कांकिणी) विचार - ग्रामवास में नराकृति विचार -नामाक्षरानुसार ग्रामवास विचार- ग्राम के सम्बन्ध में शिवा बलि विचार -राश्यानुसार ग्रामवास में निशिद्ध स्थान आदि अनेक विधियां बतायी गयी हैं। उसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण व प्रचलित विधि है - काकिणी विचार। आइए इस कांकिणी विचार को समझें –

3.3.1 काकिणी विचार

काकिणी विचार को स्पर्श करने से पूर्व यह समझना भी आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि जातक के जन्म नक्षत्र एवं उसके चरण के भेद से जातक का नाम रखा जाता है परन्तुं प्रायशः यह भी देखने को मिला है कि जातकों का नाम जन्म नक्षत्रचरणानुसार तथा प्रसिद्ध नाम भिन्न भिन्न होता है जिसका प्रयोग जातक पूरे जीवन भर करता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जातक की जन्म राशि व नाम राशि भिन्न हो सकते हैं।

वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र में जातक के जन्म राशि अथवा नक्षत्र चरण के अनुसार उपलब्ध नामाक्षर का ही विशेष रूप से प्रतिपादन मिलता है, जिसका प्रयोग विभिन्न संस्कारादि मुहूर्तो के निर्धारण मे तथा अन्य शुभ फलादेश कथनों में किया जाता है तथापि काकिणी विचार करते समय जन्म की अपेक्षा नाम राशि का ही विचार करने का विधान है। जैसा कि कहा भी गया है कि -

काकिण्या वर्गशुद्धौ च द्यूते वादे स्वरोदये ।
मन्त्रे पुनर्भूवरणे नामराशेः प्रधानता ।।[5]

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट है कि काकिणी वर्गशुद्धि-द्यूत क्रीडा वाद - विवाद - स्वरोदय- मन्त्र दीक्षा ग्रहण करने में तथा पुनर्विवाह करने में जन्मराशि की अपेक्षा नाम राशि की प्रधानता होती है। हमें साथ ही यह भी समझना चाहिए कि काकिणी से पहले वर्गो का ज्ञान होना भी महत्वपूर्ण है क्योंकि किस नामाक्षर वाले व्यक्ति को किस दिशा अथवा किस ग्राम - नगर आदि में अपना निवास बनाना चाहिए अर्थात् जातक को अपने नाम के आद्याक्षर के अनुसार किस आद्याक्षर नाम ग्राम नगर मौहल्ला शुभ अथवा अशुभ रहेगा । इसका विचार काकिणी द्वारा किया जा सकता है । अतः यहां सर्वप्रथम वर्ग-उनके स्वामी- एवं दिशाओं का परिचय कराना भी इस लेख में आवश्यक प्रतीत हो रहा है । यथा- इस सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप नारदादि ऋषियों ने कहा भी है कि-

अकारादिशु वर्गेषु दिक्षु पूर्वादितः क्रमात् ।
गृध्रमार्जार सिंह-श्वसर्पाखुमृग शशकाः।।
दिग्वर्गाणमियं योनिः स्ववर्गात्पंचमो रिपुः।
रिपुवर्गं परित्यज्य शेषवर्गः शुभप्रदाः ।।[6]

---

[4]. बृहद्वास्तुमाला 1.93 (वासयोग्यभूमि लक्षण)

[5]. वास्तुरत्नावली 1.6

[6]. वास्तुसार, पृष्ठ 09

इस प्रकार निम्नलिखित सारणी में उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या दर्शायी गयी है जिसमें पूर्वादि क्रम से अ,क,च,ट,त,प,य,श आदि आठ वर्ग तथा उनके स्वामी तथा दिशा आदि निर्दिष्ट हैं। अपने वर्ग से पंचम वर्ग वाले स्वामी परस्पर शत्रु होते हैं, क्योंकि ये परस्पर विपरीत रहते हैं अर्थात् पूर्व के स्वामी गरुड़ का अपने से पंचम (पश्चिम) के स्वामी सर्प के साथ वैर रहेगा। अतः इस विश्लेषण से हमें यह समझना होगा कि शत्रु दिशा के देश अथवा स्थान में गृह नहीं बनाना चाहिए यहां निवास शास्त्र सम्मत नहीं रहेगा। सारणी द्वारा भी हम यहां यह स्पष्ट करते हैं

क्रम	**वर्ग**	**आद्य नामाक्षर**	**दिशा**	**स्वामी**	**शत्रुयोनि**	**शत्रुदिशा**
01.	अ वर्ग	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ ,औ	पूर्व	गरुड़	सर्प	पश्चिम
02.	क वर्ग	क, ख, ग, घ, ङ	आग्नेय	मार्जार	मूषक	वायव्य
03.	च वर्ग	च, छ, ज, ड,ञ	दक्षिण	सिंह	गज	उत्तर
04.	ट वर्ग	ट, ठ, ड, ढ, ण	नैऋत्य	श्वान	शशक	ईशान
05.	त वर्ग	त, थ, द, ध, न	पश्चिम	सर्प	गरुड़	पूर्व
06.	प वर्ग	प, फ, ब, भ, म	वायव्य	मूषक	मार्जार	आग्नेय
07.	य वर्ग	य, र, ल, व	उत्तर	गज	सिंह	दक्षिण
08.	श वर्ग	श, श, स, ह	ईशान	शशक	श्वान	नैऋत्य

उपर्युक्त चक्र को समझने के पश्चात् हम काकिणी को समझने का प्रयास करते है - जैसा कि अब तक हमें विदित हो गया है कि काकिणी के सम्पादन में उपर्युक्त अष्टवर्ग का महत्वपूर्ण स्थान है अतः हम कह सकते हैं कि इन्ही आठ वर्गो की शुभ अथवा अशुभ गणना करने को ही वर्ग काकिणी कहा जाता है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार काकिणी का शाब्दिक अर्थ - ककलौल्ये धातु से ककते - गणना काले चंचली भवतीति। कक + णिनि + ङीप् ।[7] यहां पर वर्गो की शुभाशुभ गणना करने में वर्ग काकिणी शब्द का प्रयोग किया गया लगता है। वास्तुप्रबन्ध ग्रन्थ के अनुसार **"कर्तुनामाक्षरेणैव ऋक्षज्ञानं चकारयेत्"**के अनुसार गृहस्वामी के नाम के आद्य अक्षर (वर्ग) के आधार पर नाम - नक्षत्र राशि आदि का निर्णय किया जाता है। परन्तु यहां यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वास्तुशास्त्रीय अबकहड़ा चक्र ज्योतिष शास्त्रीय अबकहड़ाचक्र से भिन्न है। अतः देश चयन के सन्दर्भ में वास्तुशास्त्रीय अबकहड़ा चक्र को ही उपयोग में लाना चाहिए। जो कि इस प्रकार है -

अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्।
मूलादित्रितयं चापे शेषभेषु द्वयं द्वयम् ।।[8]

अर्थात् भसन्धि (गण्डान्त) की मेष, सिंह तथा धनु राशियों के अन्तर्गत तीन तीन नक्षत्रों की राशियां (वास्तु में) परिकल्पित है तथा शेष राशियों में दो-दो नक्षत्र ग्रहण किये गये हैं। इसी प्रकार से गृहस्वामी के नामाद्याक्षर के अनुसार नक्षत्र एवं राशि ग्रहण करना अभीष्ट माना गया है। अब हम काकिणी साधन को समझते हैं कि काकिणी साधन कैसे किया जाता है - इस सन्दर्भ में शास्त्र प्रमाण मिलता है कि -

---

[7]. शब्दकल्पद्रुम मोबा. एण्ड्रोयड एप

[8]. मु.चि.पी.टी

स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा परवर्गेण योजयेत् ।
अष्टाभिश्च हरेद् भागं योऽधिकः स ऋणी भवेत् ।।[9]

प्रामाण्यस्वरूप प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ स्पष्ट है कि जो गृहस्वामी है उसके नाम के आद्यक्षर के अनुसार जो वर्ग है उसकी संख्या को दो गुना करके दूसरे (ग्रामादि) के नाम के प्रथमाक्षरानुसार प्राप्त वर्ग की संख्या को जोड़े फिर प्राप्त योग में आठ से भाग दें फिर प्राप्त शेष संख्या गृहस्वामी की काकिणी होगी। इसी प्रकार ग्रामादि के नाम के आद्यक्षरनुसार वर्ग की संख्या को दो गुना कर दूसरे (गृहस्वामी) के नामाक्षरानुसार वर्ग की संख्या को जोड कर आठ से भाग देने पर प्राप्त शेष संख्या ग्राम की काकिणी होगी अब इसमें जिसकी कांकिणी अधिक होगी वह ऋणी होगा अर्थात दूसरे के लिए लाभकारी होगा।

उपर्युक्त श्लोक में **योऽधिकः स ऋणी भवेत्** का कुछ लोग अर्थ करते है कि जिसकी काकिणी अधिक होगी वह ऋणी होगा। फिर भी कुछ विद्वान लोग इसका विपरीत अर्थ करते हैं यथा -

स्ववर्गं द्विगुणं विधाय परवर्गाढ्यं गजैः शेषितम् ।
काकिण्यस्त्वनयोश्च तद्विवरतो यस्याधिकाः सोऽर्थदः ।।[10]

यहां पर भी काकिणी पूर्व की भांति ही निकालने का विधान है परन्तु अन्तिम पद **"यस्याधिकाः सोऽर्थदः"** के अर्थ में विद्वानों में मतान्तर है । यहां पर जिसकी काकिणी अधिक है वह पक्ष अर्थद अर्थात् धन देने वाला जिसका तात्पर्य है घाटे में जाने वाला तथा कम काकिणी वाला पक्ष लाभ में रहता है। किन्तु यह पक्ष बहुसम्मत नहीं है।

अब हम उदाहरण से काकिणी साधन कैसे करते है यह समझते हैं - जैसे कोई विक्रम नामक व्यक्ति है उसको मसूरी में निवास करना है तो इसके लिए यह कैसा रहेगा ? आइए जानते हैं -

व्यक्ति का नाम- विक्रम, नगर का नाम- मसूरी। अब हम नियमानुसार व्यक्ति के आद्यनामाक्षरानुसार वर्ग का विचार करते है तो वह वर्ग हुआ यवर्ग अर्थात् इसकी संख्या 7 है तथा नगर के आद्यनामाक्षर के अनुसार वर्ग संख्या प वर्ग अर्थात् 6 वर्ग संख्या आयी। इसके अनुसार अब नियमानुसार वर्ग संख्या के आधार पर काकिणी विचार करते है- यथा- **स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा परवर्गेण योजयेत्** इसका तात्पर्य है कि अपने वर्ग को सबसे पहले दो गुणा करें और दूसरे वर्गांक को जोड़े अर्थात् व्यक्ति का वर्गांक 7 है तथा नगर का वर्गांक 6 है। इस प्रकार से 7 को दोगुना किया तो 14 हुआ अब इसमें 6 जोड़े तो 20 आया अब इसमें नियमानुसार 8 से भाग देने पर जैसे कि नियम कहता है । **("अष्टाभिश्च हरेद् भागं येऽधिकः सऋणी भवेत्")** के अनुसार आठ से भाग देने पर 20 भाग 8 तो 4 शेष आये तो हम कह सकते है कि विक्रम की काकिणी- 4 है। इसी प्रकार मसूरी की काकिणी देखते हैं- मसूरी का वर्गांक है- 6 है, से दो गुणा किया तो 12 आया अब इसमें दूसरे के वर्गांक को जोडा तो 19 आया इसमें 8 से भाग दिया तो शेष 3 शेष आया। इसमें मसूरी की काकिणी 3 आयी तथा विक्रम की काकिणी 4 थी। इस प्रकार नियमानुसार **"योऽधिकः स ऋणी भवेत्"** के अनुसार मसूरी की काकिणी (3) से विक्रम की काकिणी (4) अधिक हे अतः हम कह सकते हैं कि विक्रम के लिए मसूरी में

[9]. बृ.वास्तुमाला 1.18

[10]. मु.चि.वा.प्रकरणम्

रहना लाभकरक नहीं रहेगा। इसी प्रकार अन्यों की भी समझनी चाहिए। **योऽधिकः स ऋणी भवेत्** के अनुसार विक्रम ऋणी रहेगा इसी प्रकार मित्रों और सेव्य सेवकों में भी वर्ग काकिणी देखनी चाहिए।

3.3.2 ग्रामवास में नराकृति विचार

किसी व्यक्ति के लिए गांव या नगर में बसना लाभप्रद है या नहीं ? यही जानने के लिए शास्त्रकारों ने नराकृति चक्र का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें नक्षत्रों के न्यास की व्यवस्था की है। इस नराकार चक्र में पांच नक्षत्र मस्तक में न्यास करें जिनमें यदि अपना जन्म नक्षत्र हो तो लाभप्रद समझें। तीन नक्षत्र मुख में होंगें जिनमें जातक का जन्म नक्षत्र हो तो धन की हानि, कोख में पांच नक्षत्र होंगे जिनमें यदि जन्म नक्षत्र हो तो धन- धान्य की प्राप्ति होती है। और अग्रिम छः नक्षत्र होंगे जिनमें यदि जातक का जन्म नक्षत्र हो तो स्त्री हावी होती है। पीठ पर एक नक्षत्र होगा जो यदि जन्म नक्षत्र हो तो पैर में पीड़ा, नाभि स्थल पर चार नक्षत्रों में यदि जन्म नक्षत्र हो तो धन सम्पदा गुह्यांग पर एक नक्षत्र होगा तथा वह जन्म नक्षत्र ही हुआ जो डर एवं पीड़ा देने वाला होता है इसी प्रकार दायें व बायें हाथ में एक- एक नक्षत्र होगा जो यदि जन्म नक्षत्र है तो क्रमशः रुदन क्रन्दन और भेदकारी होगा। इस चक्र में ग्राम का जो नक्षत्र हो उससे अपने जन्म नक्षत्र तक गणना कर फल का विचार किया जाना चाहिए। इसलिए ग्रामवास के सन्दर्भ में हमारे शास्त्रकारों ने नराकृतिचक्र के रूप में निम्न श्लोक प्रस्तुत किए हैं -

मस्तके पंच लाभाय मुखे त्रीणी धनक्षयः।
कुक्षौ पंच धनं धान्यं षट् पादे स्त्रीदरिद्रता॥

पृष्टे चैकं पादहानिर्नाभौ चत्वारि सम्पदः।
गुह्ये चैकं भयं पीड़ा हस्ते चैकं तु क्रन्दनम्।

वामे चैकं करे भेदो ग्रामचक्रे नराक्रतिः।
गणयेज्जन्मनक्षत्रं ग्रामनक्षत्रतः सदा॥

नराकृतिस्फुटार्थं चक्रम्

क्रम संख्या	ग्राम नक्षत्र से जन्मनक्षत्र तक गिनने पर संख्या	अंग स्थान	फल
01.	5	सिर	लाभ
02.	3	मुख	धन क्षय
03.	5	कुक्षि	धन-धान्य
04.	6	पैर	स्त्री दरिद्रता
05.	1	पीठ	पाद हानि
06.	4	नाभि	सम्पदा

07.	1	गुदा	भय, पीड़ा
08.	1	दायां कर	क्रन्दन
09.	1	वाम कर	भेदकारी

3.3.3 नामराशि से ग्रामवास का शुभाशुभत्व

वस्तुतः इस इकाई में जहां भी ग्रामवास अथवा क्षेत्र एवं स्थान का विचार है वहां हम देश से ही भाव ग्रहण करें। यहां नामराशि से ग्रामवास विचार का तात्पर्य देश चयन से ही है। अतः विभिन्न शास्त्रकारों के मत से जातक की नामराशि से देशचयन का विचार भी किया गया है। यथा-

नामक्षद्विसुताङ्कदिग्भवगतो ग्रामः शुभोऽन्योऽन्यथा।
तत्कोणेऽन्त्यभुवां शुभं निवसतां दोषः परेशामलम्।।

कन्याकर्किधुनुस्तुला क्रियघटाः कौर्प्यण्डजौ याम्यतो।
मध्येऽन्ये न्यवसन्त्यथेन्द्र ककुभो वर्गाः स्युरोजस्विनः ।।(वा.सा. 1.18)

उपर्युक्त प्रमाण में नामराशि से देश चयन का भाव यह है कि जातक की नाम की राशि से ग्राम अथवा नगर की राशि अगर 2/5/9/10/11 वीं हो तो उस जातक के लिए उस गांव अथवा नगर में वास करना शुभ रहेगा अन्यथा अशुभ है। इसके अनन्तर उस गांव अथवा नगर के कोणों में अन्त्यजों का निवास शुभ है अन्य वर्णो का निवास अशुभ है। इसी प्रकार गांव के दक्षिण भाग में कन्या राशि वाले तथा नैऋत्य में कर्क रोश के जातक तथा पश्चिम में धनु राशि के जातकों को निवास करना चाहिए। इसी प्रकार वायव्य में तुला, उत्तर में मेष, ईशान में कुम्भ, पूर्व में वृश्चिक, आग्नेय में मीन तथा शेष राशियां अर्थात् वृष मिथुन, सिंह तथा मकर राशि के जातक ग्राम के मध्य में निवास करें तो कल्याणकारी रहेगा। पूर्वादि दिशाओं से अवर्गादि आठ वर्ग क्रमशः बली होते है।

इसी प्रकार इसी सन्दर्भ में एक मतान्तर भी मिलता है कि ग्राम व नगर की राशि 1/7 होने पर वैर, 3/6 होने पर हानि, 4/8/12 वें होने पर रोग तथा शेष स्थान में होने पर जातक को सुख प्राप्त होता है। यथा-

एकभे सप्तमे ग्रामे वैरं हानिस्त्रिषष्ठगे।
तुरयाष्टद्वादश रोगः शेषस्थाने सुखं भवेत् ।। (वास्तुसार 1.19)

इसी प्रकार एक अन्यमत के अनुसार व्यक्ति के व्यावहारिक नाम से उपर्युक्त प्रकार से ही 2,5,9,10,11 वीं ग्राम की राशि हो तो उस ग्राम में व्यक्ति निवास करे तो उत्तम होता है।

इसी प्रकार 4,8,12 वीं राशी ग्राम की हो तो रोग 1,7वीं राशि ग्राम की हो तो वैरित्व एवं 3,6 वीं राशि ग्राम की हो तो हानि होती है। इसी सन्दर्भ में कहा भी है -

स्वनामराशितो ग्रामराशिद्वर्यङकेषु दिक्शिवैः।
सम्मितश्चेत्तदा तस्य तद्ग्रामं वास उत्तमः।।

रोगोऽष्टद्वादशे तुर्ये वैरमाद्ये च सप्तमे।
हानिः षष्टे तृतीये च ग्रामराशौ स्वनामभात् ॥ (वा.सा. 1.28)

यही भाव अन्य शब्दों में भी कहा गया है कि -

यदग्रामभं द्वयङ्कसुतेश काष्ठामितं भवेल्लाभमतः शुभः सः।
यद् भं शशाङ्काग्निः न गाब्धितुल्यं मध्योष्टषटकार्कमितं निशिद्धः ॥ (वास्तुसार 1.29)

अर्थात् निवास करने वाले जातक की नामराशि से 2,5,9,10,11 वीं अगर उस ग्राम अथवा नगर की राशि है तो वहां निवास करना उत्तम माना जाएगा। इसी प्रकार 1,3,4,7 वीं राशि हो तो सम तथा 6,8,12 वीं राशि हो तो वहां निवास निशिद्ध माना जाता है।

3.3.4 नामाक्षर के अनुसार ग्रामवास विचार

नामाक्षरानुसार भी ग्रामवास का विचार भी हमारे शास्त्रकारों ने बहुत वर्ष पहले ही समाज को दे दिया था जो कि निम्न है - जैसा कि प्रमाणरूप में **वास्तुसार ग्रन्थ में श्लोक संख्या 1.20-21** पर प्रमाणित है, यथा -

ग्रामानामाक्षरं ग्राहयं चतुर्भिर्गुणयेत्ततः ।
नरनामाक्षरं योज्यं सप्तभिर्भागमाहरेत् ॥

पुत्रलाभो धनप्राप्तिः व्ययः आयुः क्रमेण च ।
शत्रुनाशं राज्यलाभं निशेषे मरणं ध्रुवम् ॥

अर्थात् ग्राम नामाक्षर संख्या को उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार 4 से गुणा करके जातक के नामाक्षर संख्या को जोड़ के 7 से भाग देना है फिर यदि 1 शेष बचे तो पुत्रलाभ 2 शेष बचे जो धन प्राप्ति, 3 शेष बचे तो व्यय, 4 शेष बचे तो आयु, 5 शेष बचे तो शत्रुक्षय, 6 शेष बचे तो राज्यलाभ और 7 शेष बचे तो मरण होता है।

उदाहरण से समझते हैं- जैसे रामपुर में रामनाथ प्रसाद को निवास करना है तो उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार ग्रामाक्षर संख्या 4 से गुणा करके जातक के नामाक्षर संख्या 7 जोड़कर 4x4 = 16+7 = 23 को सात से भाग दिया तो 2 शेष बचा इसलिए उक्त ग्राम में निवास करने से रामनाथ प्रसाद को धनप्राप्ति होती रहेगी।

3.3.5 ग्रामवास के सम्बन्ध में शिवाबलि का विचार

ग्राम वास अथवा देश चयन के सन्दर्भ में शिवाबली अर्थात् श्रृगालिन को बलि दी जाती है जिसके बारे में बताया गया है कि किसी निर्जन देश में निशीथ के समय मांसादि से युक्त भात को भूमि पर रखकर कुछ दूर जाकर देखना चाहिए कि यह शिवा किस दिशा में रुदन करती है तदनुसार फल इस प्रकार देखना चाहिए कि यदि वह शिवा (श्रृगालिन) नैऋत्य कोण में शब्द करे तो वहां निवास निषिद्ध माना गया है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में शिवा बोले तो कल्याणकारी, आग्नेय कोण में बहुत भयप्रद, पूर्व दिशा में शिवा बोले तो उच्चाटन या वैरभाव वर्धक समझें, इसी प्रकार ईशान कोण में शिवा की ध्वनि आए तो मरण या मृत्युतुल्य कष्ट मिलता है। उत्तर दिशा में शब्द सुनाई पड़े तो शुभ रहता है, वायव्य कोण में भयप्रद और पश्चिम दिशा में शिवा बोलती है तो अथवा पश्चिम में दिशा में श्रृगालिन बोलती सुनाई पड़े तो सुख प्राप्त

होता है एसा जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त चारों ही दिशाओं में श्रृगालिन बोलते सुनाई पड़े तो उस स्थान पर निवास का विचार त्याग देना चाहिए यही श्रेयस्कर रहेगा। इसी प्रकार यदि चुप रहे अथवा कोई आवाज सुनाई न पड़े तो सर्व लाभ होगा ऐसा गर्गादि आचार्यो का मत है।[11]

स्पष्टार्थ चक्र-

क्र.संख्या	**01**	**02**	**03**	**04**	**05**	**06**	**07**	**08**
दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
फल	उच्चाटन	महान भय	कल्याण	निषिद्ध	आनन्द	अल्पभय	मरण	त्याज्य

ग्रन्थान्तर से भी अन्य आचार्यो ने भी शिवा बलि का विचार किया है जैसे पूर्व दिशा में अगर श्रृगालिन बोले तो तस्कर भय अग्निकोण में बोले तो उपद्रव व कलहकारी, दक्षिण दिशा में बोलने पर सुख कल्याण व अर्थागम, नैऋत्य में ध्वनि आये तो अल्पकालिक या अस्थायी निवास, पश्चिम दिशा में बोलने पर धन प्राप्ति व व्यवसाय में उन्नति वायव्य कोण में बोलने पर अपने हितेशी मित्रों की प्राप्ति, उत्तर दिशा में बोलने पर दीर्घावधि तक निवास और इशान कोण में शिवा की ध्वनि आये तो मरण अथवा मृत्यु तुल्य कष्ट होगा। ऐसा फल गृहारम्भ व गृहप्रवेश के समय विचारना अपेक्षित है।[12]

3.3.6 राशि के अनुसार ग्रामवास में निषिद्धस्थान

रामदैवज्ञादि आचार्यो ने इस विषय पर खूब लिखा है। उनके अनुसार राशी के अनुसार गांव या नगर में निवास और निरोध का बताते हुए कहते हैं कि जिस गांव में कोई बसना चाहे उस गांव के नौ हिस्से की कल्पना करें। इसमें वृष, सिंह, मकर, मिथुन, राशी वाले जातकों को उस नगर के मध्य में निवास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में क्रम से वृश्चिक, मीन, कन्या, कर्क, धनु, तुला, मेष, कुंभ राशि वालों को पूर्व- आग्नेयकोण-दक्षिण-नैऋत्य-पश्चिम-वायव्य-उत्तर-ईशान में निवास करना अशुभ है। अन्य शब्दों में कहें तो वृश्चिक राशि वालों को पूर्व में, मीन राशि वालों को अग्नि कोण में, कन्या राशि वालों को दक्षिण में, कर्क राशि वालों को नैऋत्य कोण में, धनुराशि वालों को पश्चिम में, तुला राशि वालों को वायव्य कोण में, इसी प्रकार मेष राशि वालों को उत्तर में और कुंभ राशि वाले व्यक्तियों को नगर के ईशान कोण में निवास नहीं करना चाहिए अर्थात् इनके लिए ये निषिद्ध हैं। इसी प्रकार आकारादि वर्ग पूर्वादि दिशाओं में बलशाली माने जाते हैं और अपने से पाँचवाँ वर्ग शत्रुभाव

---

[11] नैर्ऋत्यां हि शिवा रौति तदा वासं न कारयेत्। दक्षिणे रौति कल्याणं वह्निकोणे भयं महत्।। पूर्वे तूच्चाटनं ज्ञेयं कलिर्वा रिपुभिस्सह। ईशाने मरणं प्रोक्तमुत्तरे कुरु सर्वतः। वासं वायव्य कोणे च भयं किंचित् प्रजायते। पश्चिमे च यदा रौति तदाऽऽनन्दः प्रकीर्तितः।
अष्टदिक्षु यदा रौति तदा वासं न कारयेत्।। (निश्शब्दे सर्वलाभः स्यादिति गर्गादिभशितम्) **(वास्तुरत्नावली 1.11-13)**

[12] शुक्रे चैरादिशङ्क हुतभुजि विविध क्लेशभीतिश्च याम्ये सौख्यं कल्याणवित्तं दितिसुतदिशि चेत्स्वल्प कालस्थिश्च।
वारुण्यां वित्तलाभोऽनिलदिशि सुहृदां सङ्गमश्चोतरस्यां वासे स्थैर्यं प्रदिष्टं शिवदिशि मरणं वास्तु वेश्मप्रवेशो।।**(वा.रत्नावली 1.14)**

वाला होता है। जैसा कि ग्रन्थकारों ने कहा भी है यथा-

गोसिंहनक्रमिथुनं निवसेन्न मध्ये ग्रामस्य पूर्व ककुभोऽ लिझषाङ्गनाश्च।
कर्को धनुस्तुलमेषघटाश्च तद्वद्वर्गाः स्वपंचमपरा बलिनः स्युरैन्द्रयाः ।। (वास्तुरत्नावली 1.18)

उपर्युक्त प्रमाण को हम निम्न **राश्यानुसार ग्रामवास निशिद्ध स्थान चक्र** से भी समझ सकते हैं -

ग्राम की दिशा	मध्य	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
निषिद्ध राशि	2,5,10, 3	8	12	6	4	9	7	1	11
वर्ग	—----	अ	क	च	ट	त	प	य	श

इसी सन्दर्भ में भूपाल वल्लभ नामक ग्रन्थ में मतान्तर से लिखा है जिसका उद्धरण वास्तुरत्नावली ग्रन्थ में भी दिया है जिसका भाव भी लगभग इसी प्रकार का है। यथा -

वर्गाः खगेशमार्जारसिंहश्वसर्पमूषकाः।
इभावी पूर्वतस्तेषां स्ववर्गात्पंचमो रिपुः।।
तस्मात् स्ववैरिवर्गस्य दिशि वासो न शोभनः।। वास्तुरत्नावली (1.19)

अर्थात्- पूर्वोक्त आठों वर्गों के स्वामी क्रमशः गरुड़, बिलाव,सिंह, श्वान, सर्प, मूषक, गज और मेष माने गए हैं। ये ही पूर्वादि दिशाओं के स्वामी भी कहे गए हैं। अपने -अपने वर्ग से प्रत्येक पांचवें स्थान का स्वामी परस्पर शत्रुभाव लिए रहता है। इस प्रकार श्त्रुभाव की दिशा में व्यक्ति को निवास नहीं करना चाहिए।

नाम के अक्षर के अनुसार

क्रम सं.	01.	02.	03.	04.	05.	06.	07.	08.
नामाक्षर	अ वर्ग	क वर्ग	च वर्ग	ट वर्ग	त वर्ग	प वर्ग	य वर्ग	श वर्ग
वर्ग	गरुड़	बिड़ाल	सिंह	श्वान	सर्प	मूषक	मृग/गज	मेष/शशक
शत्रु	त	प	य	श	अ	क	च	ट
गरुड़ादि वर्ग की दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
शत्रु वर्ग दिशा	पश्चिन	वायव्य	उत्तर	ईशान	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य

3.4 देश का विचार - (देश का चयन)

जैसे कि पहले ही प्रस्तुत इकाई में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि देश- स्थान - क्षेत्र ये सब समानार्थक शब्द हैं। वस्तुतः देश अथवा स्थान के निर्धारण हेतु आक्षांश एवं दशान्तर का साधन किया जाता है। अब अक्षांश और देशान्तर क्या हैं ये समझने के लिनए पृथ्वी के गोलत्व को समझना पड़ेगा। जैसा कि सभी जानते हैं कि हमारी पृथ्वी गोल है। इस प्रकार गोल पृथ्वी को दो आधे आधे भागों में बांटा जा सकता है। यहां हम पहले प्रकार से गोल को पृथ्वी के दोनों उपरीभाग अर्थात् पृष्ठीय ध्रुवों से 90 अंश की दूरी पर स्थित भूमध्यवृत्त से दो भागों में विभाजक किया जाता है। इन दोनों भागों को हम उत्तरी गोलार्ध जो कि उपर की तरफ व दक्षिण गोलार्ध (नीचे की तरफ) कहते हैं। इन दोनों गोलार्धो को बीच से विभाजित करने वाली रेखा को ही भू मध्य रेखा अथवा विषुवत रेखा अथवा निरक्षवृत्त अर्थात् शून्य अक्षांश रेखा भी कहा जाता है।

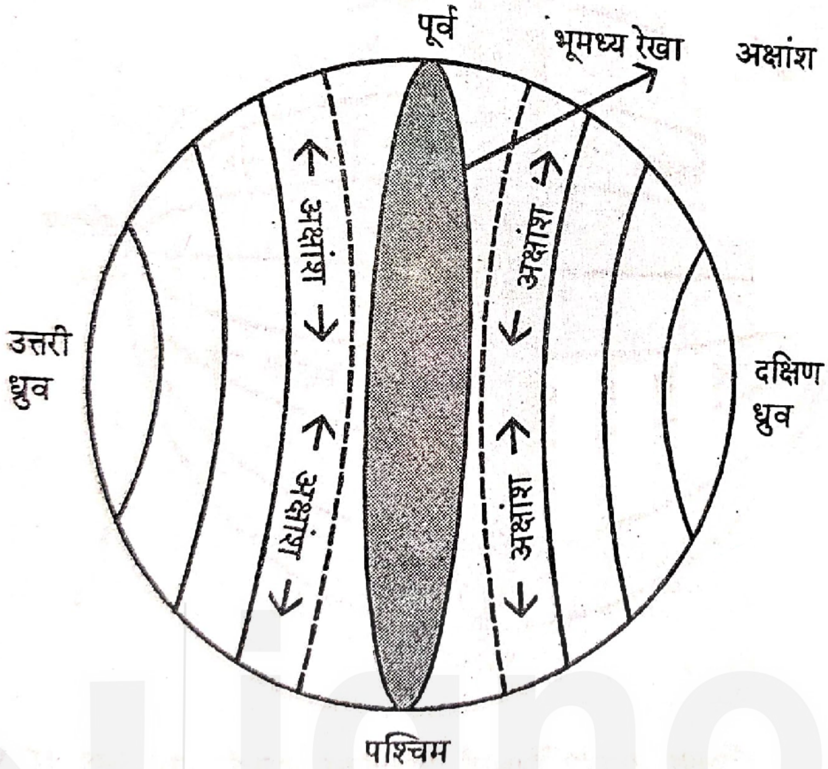
इसको अगर हम दूसरे शब्दों में समझें तो इसी भूमध्य से उत्तरी ध्रुव तक के नब्बे अंश के क्षेत्र को उत्तरी गोलार्ध तथा इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव तक के 90 अंशों तक के विस्तार को दक्षिणी गोलार्ध के नाम से जाना जाता है। हम अपने स्थान का निर्धारण भी इसी विषुवद्वृत्त के आधार पर अक्षाशों द्वारा करते हैं।

द्वितीय प्रकार से हम अपने देश का निर्धारण देशान्तरों के माध्यम से करते है की कल्पना की है। इसके अन्तर्गत इनमें से एक वृत्त को मानक भूमध्य देशान्तर मानकर उससे पूर्व या पश्चिम कितने अंशादि पर अपना स्थान अथवा देश है इसका ज्ञान किया जाता है। किसी स्थान की सटीक स्थिति को उस स्थान के अक्षांश व देशान्तर की मदद से जान सकते है। किसी स्थान को अक्षांशधरातल पर उस स्थान की उत्तर-दक्षिण स्थिति को बताता है। जबकि देशान्तर उसी स्थान की पूर्व-पश्चिम स्थिति को बताता है। प्रस्तुत इकाई में हम अब अक्षांश व देशान्तर को विस्तार से समझने का प्रयास करते हैं।

3.4.1 अक्षांश विचार

चित्र 1 में दर्शाये अनुसार पूर्व से पश्चिम की तरफ पृथ्वी को घेरते हुए पूरी गोलाई में यदि पृथ्वी के उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों वाले भागों में समान दूरी पर रेखायें खीचीं जाये तो इनको अक्षांश कहा जाता है । इन अक्षांशों की सहायता से किसी व्यक्ति का स्थान भूमध्य रेखा अथवा विषुवत रेखा से कितनी दूरी पर है ? यह जान सकते हैं। इसी के अनुसार लग्न आदि समस्त गणनायें की जाती है तथा पंचाग आदि बनाये जाते हैं। समान्यतया हम ये समझते हैं कि भूमध्यरेखा 0°अक्षांश रखा गया है तथा हम इसे ही निरक्षदेश कहते हैं। भूमध्य रेखा के समीप स्थित सभी स्थानों का राशि उदयमान बराबर रहता है। हम इस विषुवत रेखा से जैसे उत्तर अथवा दक्षिण दिशा की तरफ जाते है वैसे-वैसे उन स्थानों के राशि उदयमान में परिवर्तन आता जाता है। यह विस्तार से समझते है जैसे 1° अक्षांश की दूरी में पृथ्वी पर लगभग 111 कि.मी. का विस्तार आता है । इस प्रकार 1 कला में लगभग 1850 मीटर और 1 विकला में लगभग 31 मीटर की दूरी आती है । भूमि की समस्त आबादी लगभग 66° उत्तर व दक्षिण अक्षांश के बीच स्थित है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में पलभा से अक्षांश साधन करने की विधि भी बतायी गयी है । अक्षांश रेखाएँ भूमध्य रेखा (पूर्व-पश्चिम) के समान्तर होती है तथा उत्तर और दक्षिण दोनों और समान दूरी पर होती हैं। जैसे कि हमने जाना भूमध्य रेखा पर अक्षांश शून्य होते हैं।

चित्र 1



अतः भूमध्य रेखा पर पड़ने वाले किसी भी स्थान पर कोई व्यक्ति यदि रात्रि में दोनों ध्रुवों का दर्शन करे तो उत्तरी व दक्षिणी दोनों ध्रुव क्षितिज से सटे हुए दिखाई देंगे यहां यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि निरक्ष से भिन्न किसी भी सात स्थान पर दोनों ध्रुवों के एक साक्ष दर्शन कभी भी नहीं होगे। अक्षांश के सन्दर्भ में अगर हम समझें तो ध्रुवतारा क्षितिज से जितने अंश उपर उठा रहता है उतने अंश ही उस स्थान का अक्षांश होता है। दूसरा ध्रुव अक्षांश तुल्य अंश पर क्षितिज के नीचे चला जाता है इसलिए अदृश्य हो जाता है। इसलिए ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्तीय ग्रन्थों के अनुसार ध्रुव की उन्नति (क्षितिज से उठाव) तुल्य ही अक्षांश की परिभाषा बतायी गयी है। यथा-

ध्रुवताराया उन्नतिस्तावन्तोऽक्षांशाः ।।

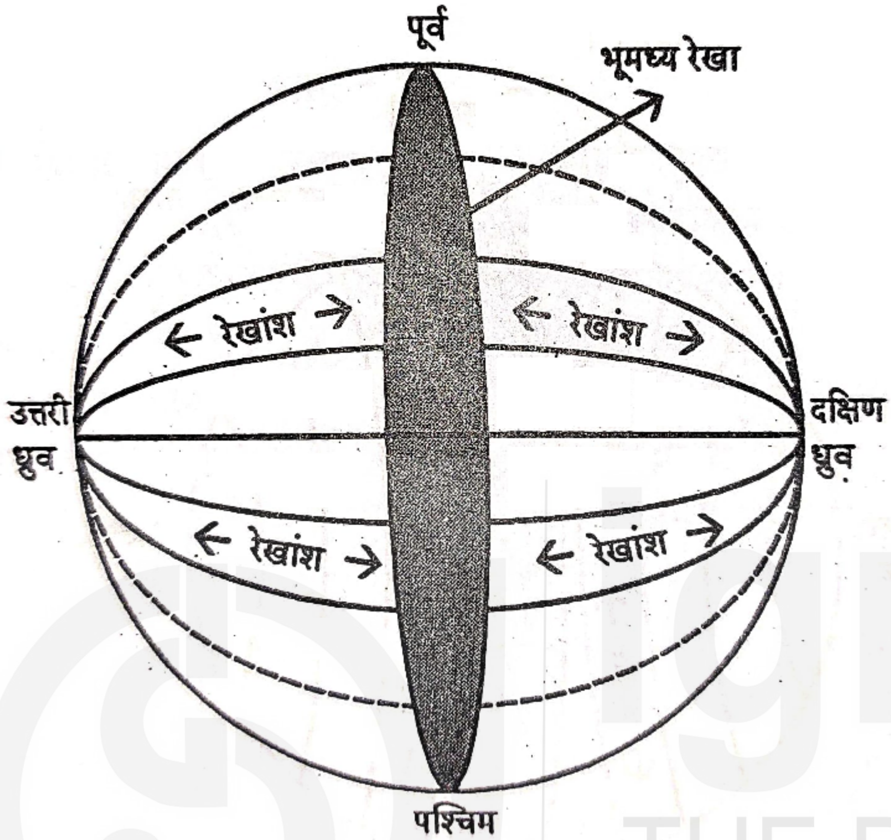
अभीष्ट स्थान का कितना अक्षांश होगा ? इसका प्रत्यक्षज्ञान हम एक अन्य सरल रीति से करने का प्रयास करते है यथा रात्रिकाल में किसी पाइप के छिद्र से अगर हम ध्रुव दर्शन का प्रयास करें तो उस छिद्र द्वारा ध्रुव दर्शन होते ही उस नालिका को अपने सरलमार्ग में नीचे की ओर बढ़ाकर भूमि से सटा दिया जाये तो इस प्रकार एक त्रिभुज का निर्माण होगा। इस त्रिभुज में नलिका भूमि पर जहां लगी है उस कोण के बराबर ही उस स्थान का अक्षांश होगा।

3.4.2 देशान्तर विचार

देशान्तर का अर्थ होता है दो रेखा देशों का अन्तर। देश का अर्थ यहां स्थान है न कि राजनैतिक मानचित्र पर दर्शाया गया कोई देश। इस तरह सामान्य परिभाषा के तौर पर आप समझ सकते हैं कि देशान्तर का अर्थ दो स्थानों का अन्तर है। यह देशान्तर दो प्रकार का होता है- 1. पूर्व-पश्चिम, जिसे हम पूर्वापर देशान्तर कहते है तथा दूसरा दक्षिण- उत्तर जिसे याम्योत्तर देशान्तर कहते हैं। पूर्वापर देशान्तर का ज्ञान अक्षांश द्वारा किया जाता है। रेखांश या देशान्तर रेखाएँ वे

होती हैं जो रेखायें पृथ्वी पर उत्तरी ध्रुव से प्रारम्भ होकर भूमध्य रेखा को खड़ी काटती हुई दक्षिणी ध्रुव तक जाती है। जैसा कि निम्न चित्र संख्या दो में बताया गया है।

चित्र-2



चित्र संख्या 2 में रेखायें वस्तुतः देशान्तर को दर्शाती है। ये उत्तर से दक्षिण आडी रेखाएँ है तथा पृथ्वी पर पूर्व व पश्चिम की तरफ बराबर दूरी पर गोल पर इस प्रकार दिखती है जैसे नारंगी की कलियां हों। इन रेखांश रेखाओं पर किसी एक स्थान को निश्चित करके भूमि पर दूसरे स्थानों की दूरी उस निश्चित किये हुए स्थान से नापी जाती है। अतः इनको की हम देशान्तर रेखाओं के नाम से भी जानते हैं। इग्लैण्ड स्थित ग्रीनविच नामक स्थान पर 0° देशान्तर मान लिया है अर्थात् ग्रीनविच को 0° दशान्तर मानकर निश्चित कर लिया गया है। प्राचीन काल में भारतीय ज्योतिष के अनुसार उज्जैन के देशान्तर को 0°निश्चित किया गया था। जहां से सभी स्थानों की दूरी मापी जाती थी। परन्तु अब ग्रीनविच से सभी स्थानों की दूरी मापी जाती है।

वस्तुतः भूमध्य रेखा पर इन देशान्तर के मध्य सबसे अधिक दूरी तथा दोनों ओर उत्तर-दक्षिण क्रमशः कम होती हुई दोनों ध्रुवों तक जाकर शून्य हो जाती है। यहां भी भूमध्य रेखा पर 1°अक्षाश की दूरी में पृथ्वी पर लगभग 111 (एक सौ ग्यारह) किलोमीटर होते हैं तथा 66° उत्तर व दक्षिण में अक्षांश पर यही दूरी लगभग 45 किलोमीटर तथा एक विकला में 12.5 मीटर ही रहती है। जैसा कि सभी को विदित है सूर्य पृथ्वी के 24 घंटे में एक चक्कर लगाता है। लेकिन वास्तविकता व सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए 24 घंटे में अपनी धुरी पर एक बार पूरी घूम लेती है। जिस कारण दिन रात्रि होते हैं।अर्थात् जब पृथ्वी अपनी धुरी पर घूर्णन करती हुई एक पूरा चक्कर लगाती है तो एक वृत्त के 360° घूम लेती है और इसमें उसको 24 घंटे का समय लगता है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि पृथ्वी एक घण्टे में

360/24 - 15° (अंश) घूम लेती है। अथवा 1 अंश = 1/15 घंटा = 60/15 मिनट = 4 मिनट। अर्थात् पृथिवी चार मिनट में एक अंश घूमती हैं । उपर्युक्त इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक देश के स्टैण्डर्ड रेखांश में से अपने- अपने रेखांश का अन्तर भारत में 82°30 से करके 1°के 4 मिनट के मान से पूर्व में स्थित होने पर जोड़ने से और पश्चिम में स्थित होने पर घटाने से उस इष्ट स्थान का स्थानीय मध्यम समय आ जाता है। जैसे हमारे देश भारत का रेखान्तर अथवा देशान्तर 82°30' है तो 82°30× 4 = 330 मिनट आता जो कि 5 घण्टे 30 मिनट होते हैं। अब चूंकि भारत ग्रीनविच से पूर्व में स्थित है तो जब ग्रीनविच पर 0 समय होगा भारत में वहां से 5 घण्टे 30 मिनट समय ज्यादा होगा अर्थात् तब ग्रीनविच पर 00 बजेंगे तब भारत में 5 बजकर 30 मिनट हो रही होगी । इसी प्रकार से अन्य जगह अथवा देशों का देशान्तर के माध्यम से समय निकाल सकते हैं जिसका वहां की घड़ियाँ समय देखने के लिए में प्रयोग होता है।

3.5 सारांश

देश की अवधारणा एवं भेद नामक इस अध्याय में हमने ज्योतिषशास्त्र के प्रति आकर्षण एवं जिज्ञासा का भाव होने के कारण ही आप सभी अध्येताओं का मन इस शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत हुए हैं। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। साथ ही इस इकाई अध्ययन के जितने भी उद्देश्य हमने प्रारम्भ में निश्चित किये थे वे सब हमने प्राप्त कर लिये हैं । देश की अवधारणा एवं भेद को समझाने के लिए हम जानते हैं कि समस्त पृथ्वी विविधताओं से भरी हुई है अतः उचित देश चयन के सन्दर्भ में कुछ गड़बड़ी भी हो सकती है। इसलिए समस्त भूगोल अथवा भूमि को भूमध्य रेखा से उत्तरी गोलार्द्ध व दक्षिणी गोलार्द्ध के रूप में विभाजित करते हैं यहां उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी अक्षांश व दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी अक्षांश होते हैं। अक्षांशों का प्रारम्भ भूमध्यरेखा से ही होता है। अथर्ववेद के उपवेद में देश का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि देश के आधार पर ही काल का चयन होता है। अर्थात् देश का निर्धारण होने पर ही दिक् व काल का निर्धारण संभव होता है अतः देश चयन सर्वप्रथम किया जाना चाहिए जिसके लिए हमने प्रस्तुत अध्याय में विविध विधियों का ज्ञान भी प्राप्त किया है। अक्षांश व देशान्तर के विषय में विस्तृत रूप से अध्ययन किया तथा ग्रीनविच के स्थान को 0° अंश मानकर 'देशान्तर'' अथवा 1 अंश को 4 मिनट मानकर हम विश्व के सभी स्थानों का वहां के देशान्तर के आधार पर स्थानीय मानक समय का निर्धारण भी कर सकते हैं, यह जाना।

3.6 शब्दावली

तेज = अग्नि, **शोधन**= शुद्धिकरण, **अवयव** = तत्त्व, **नराकृति** = पुरुष की आकृति, **निशिद्ध** = त्याज्य, **धूतक्रीड़ा** = जुआ खेलना, **आद्याक्षर**= प्रथम अक्षर, **पूर्वादिक्रम** = पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर दिशाओं का क्रम, **ऋणी** = उधार लेने वाला, **अर्थद** = धन देने वाला, **महाजन** = सेठ आदि (जो लोगों के ऋण आदि देते हैं), **ग्रामवास** = गांव में निवास, **सम्पदा** = सम्पति, **कोण दिशा** = ईशानादि कोणीय दिशा, **शिवा** = श्रृगालिन, **निशीथ** = अर्धरात्रि, **भूमध्य** = भूमि के मध्य का स्थान, **निरक्ष** = शून्य अक्षांश, **गोल** = ग्लोब, **अक्षांश** = अपने स्थान से ध्रुव की उंचाई, **देशान्तर** = दो रेखा देशों के मध्य का अन्तर, **दक्षिणी गोलार्ध** = भूमध्य रेखा से उत्तर दिशा का क्षेत्र, **उत्तरी गोलार्ध** = भूमध्य रेखा से उत्तर का क्षेत्र, **निरक्षदेश** = वह स्थान जहां शून्य अक्षांश हो,

3.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. **बृहद्वास्तुमाला-**व्याख्याकार- श्रीरामनिहोर द्विवेदी, प्रकाशक - चौखम्बा सुभारती प्रकाशन-वाराणसी।
2. **वास्तुरत्नावली-** व्याखाकार- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', प्रकाशक - चौखम्बा ओरियन्टालिया दिल्ली।
3. **वास्तुसार -** व्याख्याता- प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी जी, प्रकाशक -ईस्टर्न बुक लिंकर्स-दिल्ली
4. **बृहद् भारतीय कुण्डली विज्ञान -** सत्यदेव शर्मा, प्रकाशक - जगदीश संस्कृत पुस्तकालय- जयपुर
5. **सूर्यसिद्धान्त-** श्री कपिलेश्वर द्विवेदी, प्रकाशक - चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
6. **भारतीय ज्योतिष -** नैमिचन्द शास्त्री, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ- दिल्ली

3.8 बोध प्रश्न

1- वास्तुशास्त्रानुसार भूमि चयन के विविध सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप से स्पष्ट करें।

2- नाम राशि के अनुसार ग्राम वास के शुभाशुभत्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

3- वास्तुशास्त्रीय अबकहडा चक्र क्या है ? इसे कैसे साधते हैं? विस्तार से लिखें।

4- वास्तुशास्त्र में काकिणी विचार कैसे करते हैं स्पष्ट करें।

5- वास्तुशास्त्र में भूमि चयन हेतु शिवाबलि की विधि को विस्तार से समझायें।

6- अक्षांश किसे कहते हैं ? टिप्पणी लिखें।

7- देशान्तर किसे कहते है ? स्पष्ट करें।

8- देश / स्थान की सामान्य अवधारणा को समझाएं।

इकाई 4 दिक् की अवधारणा

इकाई प्रारूप

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- दिक् की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
- दिशा साधन की विविध विधियों को जान सकेंगे।
- शङ्कु द्वारा दिक् साधन की विधि को समझ सकेंगे।
- सूर्य सिद्धान्तोक्त दिक्साधन विधि द्वारा दिक् साधन कर सकेंगे।
- भास्कराचार्य के अनुसार दिक्साधन की विधि को समझ सकेंगे।
- विषुव दिन से दिक्साधन की विधि को समझ सकेंगे।

- गणेश दैवज्ञ के अनुसार दिक्साधन की विधि को समझ सकेंगे।
- नक्षत्र के अनुसार दिक् साधन करना सीख सकेंगे।
- ध्रुव तारे के माध्यम से दिक्साधन करना सीख सकेंगे।
- मय के अनुसार दिक्साधन करने की विधि को समझ सकेंगे।
- दिनमान के माध्यम से दिक्साधन करना सीख सकेंगे।
- प्राचीन व आधुनिक विधियों द्वारा दिक्साधन को समझ सकेंगे।
- दिशाओं के व्यवहार को समझ सकेंगे और उनकी प्रत्यक्षता को सिद्ध कर सकेंगे।
- दिन व रात्रि में किस प्रकार से दिक्साधन करें यह जान सकेंगे।
- विषुवदिन के आधार पर दिक्साधन को जान कर प्रायोगिक अध्ययन में समर्थ हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

वस्तुतः मानव की मूलभूत आवश्यकताओं में तीन वस्तुओं की अधिक चर्चा होती है, रोटी, कपड़ा, और मकान। हम जानते हैं कि जीवित रहने के लिए भोजन, तन ढकने के लिए वस्त्र, एवं आश्रय स्थल हेतु मकान का होना परमावश्यक है। और समान्यतः यह सर्वविदित है कि प्राणीमात्र सुख तथा सुरक्षा की दृष्टि से अपने योग्य निवास की व्यवस्था करता है। सब जीवों में मानव बुद्धि प्रधान प्राणी है जिसका जीवन क्रम वेदशास्त्रों के निर्देशानुसार अनुशासित है। अतः स्त्री पुत्र आदि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला प्राणियों के सुख का स्थान और सर्दी, वायु, गर्मी, आदि कष्टों से रक्षा करने वाला 'गृह' ही है। विधिवत् गृहनिर्माणकर्ता को बावडी, देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है; अतएव विश्वकर्मा आदि देवशिल्पियों ने सर्वप्रथम गृहनिर्माण का निर्देश किया है।[1] वास्तव में हमें उपर्युक्त गृह की आवश्यकता के लिए दिक् साधन की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए दिक्-देश-काल का ज्ञान हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण तो है ही साथ ही ये तीनों अंग अर्थात् दिक्-देश-काल भारतीय ज्योतिषशास्त्र के आधारभूत अंग हैं। किसी भी देश अथवा स्थान पर काल व दिक् का होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः हम कह सकते है कि ये तीनों परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से युक्त हैं। किसी भी स्थान के सम्यक ज्ञान के लिए दिशा का ज्ञान अनिवार्य है। दिशा का ज्ञान किसी भी स्थान को आधार मानकर ही किया जा सकता है। शास्त्रानुसार दिक् की परिभाषा को समझे तो कह सकते हैं कि प्राच्यादिव्यवहार हेतु दिक् अर्थात् व्यवहार योग्य जो हो उसे दिशा कहते हैं।

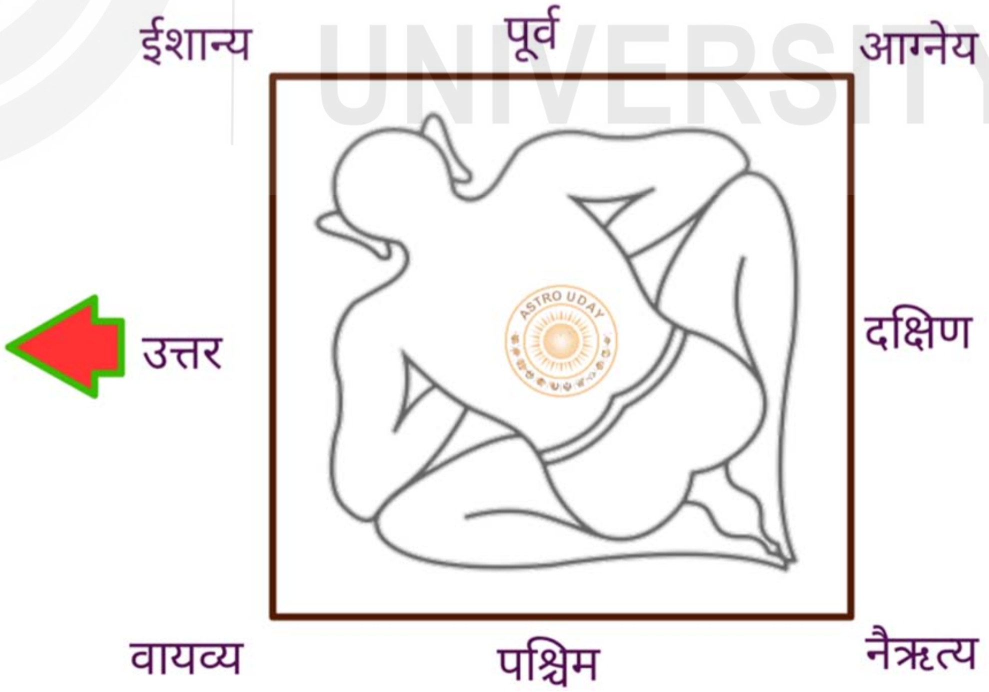
भारतीय ज्योतिष के इतिहास में झांकने से पता चलता है कि प्रारम्भिक अवस्था में जब मानव जंगलों में रहता था तो यह देखता था कि नित्य एक समय एक बहुत बड़ा चमकीला प्रकाश युत पिण्ड निकलता है फिर एक नियत समय के अन्तर पर छिप भी जाता है तथा फिर बहुत सारे चमकीले पिण्ड आकाश में दिखाई देने लगते हैं, अंधेरा रहता है, एक शीतल रोशनी से युत

[1] स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्। जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्॥ वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुपद्यते। गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥ वृहद्वास्तुमाला 01.04

पिण्ड भी देखने को मिलता है। बाद में यह सिद्ध हुआ कि जो चमकीला प्रकाश युत पिण्ड दिखाई देता है वह सूर्य है। जब वह छिपता है तब रात्रि होती है और आकाश में बहुत सारे तारे चमकते है। एक शीतल प्रकाश युत पिण्ड चन्द्रमा के नाम से जाना गया। अब यह भी जाना जाने लगा कि ये पूर्व दिशा है, तथा ये पश्चिम दिशा है। यही ज्ञान हमारी शास्त्र परम्परा में एक मील का पत्थर साबित हुआ तथा इसी प्रकार के अन्य रहस्य भी हमारे सामने उजागर हुए। और तब से आज तक हम सूर्योदय और सूर्यास्त के माध्यम से पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण आदि दिशाओं को व्यवहार में प्रयोग ला रहे हैं। इस प्रकार स्थूल अध्ययन के बाद ग्रहों व नक्षत्रों का भी ज्ञान प्रकार में आया। इसी के साथ-साथ सभी दिशाओं का ठीक-ठीक ज्ञान किस प्रकार हो इस प्रकार शास्त्रों में दिक्साधन की विविध विधियों का ज्ञान हुआ। फिर इसी क्रम में दिन में, रात्रि में विषुव दिन में, ध्रुव से, शंकु आदि से दिक्साधन करने की अनेक विधियां भी है जिन्हें हम प्रस्तुत इकाई में विस्तार से अध्ययन करके समझेंगे।

4.2 दिक् परिचय

वस्तुतः प्राचीन ज्ञान के आधार पर आज हर कोई समझदार व्यक्ति दिग् ज्ञान से परिचित हैं। लगभग हर व्यक्ति पूव-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण दिशा का ज्ञान रखता है। परन्तु फिर भी हमारे शास्त्रों में इन चार दिशाओं के अतिरिक्त भी अन्य चार दिशाओं का भी वर्णन विद्यमान है, जिनका नाम क्रमशः ईशान, आग्नेय, नैऋत्य वायव्य है। इनमें पूर्व दक्षिण के मध्य आग्नेय का स्थान है इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम के मध्य नैऋत्य व पश्चिम उत्तर के मध्य वायव्य तथा उत्तर पूर्व के मध्य ईशान दिशा रहती है। इन चारों को विदिशा अथवा कोणीय दिशा के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार से क्रमशः प्रदक्षिणी क्रम अर्थात् सृष्टिक्रम या दक्षिणावर्त क्रमशः पूर्व आग्नेय-दक्षिण-नैऋत्य-पश्चिम-वायव्य-उत्तर ईशान आदि दिशाओं का उल्लेख हमें शास्त्रों में मिलता है। इस दिशा क्रम को हम निम्न चित्र के माध्यम से भी समझते हैं –



इसी प्रकार से हमने उपर्युक्त चित्र के माध्यम से वास्तुशास्त्र में उद्धृत चार दिशा पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण व चार विदिशा अथवा कोणीय दिशाओं (आग्नेय-नैऋत्य-वायव्य-ईशान) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विभिन्न शास्त्रकार दिशाओं के महत्त्व को समझाते हुए कहते है कि किसी भी निमार्ण जो मानवों द्वारा किया जाता है जैसे भवन-राजप्रासाद- द्वार बरामदा- यज्ञमण्डप आदि में दिक्साधन करना प्रथम व अपरिहार्य कार्य है क्योंकि दिक् भ्रम होने पर यदि निर्माण हो तो कुल का नाश होता है ।[2] दिक् साधन वास्तुशास्त्र व गणित ज्योतिष का प्रमुख अवयव है। सर्वप्रथम दिशा का साधन करना आवश्यक है क्योंकि यदि किसी कार्य को करते समय यदि दिग्भ्रम हो जाए तो परिणाम बदल जाएगा अतः विशेषरूप से वास्तुशास्त्र में दिक्साधन अपेक्षित है। दिशा का निर्धारण देश को आधार मानकर ही किया जाता है। यहां ध्यातव्य है कि देश, स्थान का द्योतक है। इसलिए निश्चित स्थान पर अक्षांश व देशान्तर के माध्यम से वहा दिक् या दिशा साधन करना सरल हो जाता है।

वस्तुतः भवन निमार्ण में दिक्साधन पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। गृह निर्माण आदि के लिए जो स्थान अथवा देश हम ने शास्त्रोक्त विधि द्वारा निश्चित किया है, सर्वप्रथम उस क्षेत्र की खरपतवार आदि को साफ कर वहां की भूमि को समतल बनाकर भूमि का शोधनकर, विद्वान ब्राह्मणों द्वारा विधिवत् पूजन करवाकर दिक् साधन करवाना चाहिए।

4.3 दिक् साधन विधि

प्रस्तुत इकाई में अब तक हमने जान लिया कि दिशा का महत्त्व क्या है ? से कितनी होती है, क्या ये दिशाएं वास्तविक है? हमें दिक् साधन की आवश्यकता क्यों है? आदि आदि। वस्तुतः दिशा की अवधारणा देश (स्थान) विशेष के साथ-साथ बदलती रहती है, क्योंकि भूमि के हर भाग अथवा स्थान का अक्षांश-देशान्तर भिन्न भिन्न है अतः दिशा भी अक्षांश के अनुसार परिवर्तित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो हर अक्षांश एक दिशा को द्योतित करता है। पृथ्वी का ऐसा कोई भी भाग नहीं जहां दिशाएं नहीं है।

ज्ञात्वा पूर्वं धरित्री दहनखननसम्प्लावनैः संविशोध्य
पश्चात्कृत्वा समानां मुकुरजठरवद्वाचायित्वा द्विजेन्द्रैः।

पुण्याहं कूर्मशेषो क्षितिमपि कुसुमाद्यैः समाराध्य शुद्धे
वारे व्यतिथ्यां च कुर्मात् सुरपतिककुभः साधनं मण्डपार्थम् ॥[3]

अतः हम गणित के माध्यम से किस दिशा का स्थान किस अक्षांश के तुल्य है यह जान सकते हैं। साथ ही हम अक्षांशों के अलावा रेखांशों व देशान्तर को भी गणित के माध्यम से निकाल सकते है जिनका स्पष्ट विवरण गणित ज्योतिष में मिलता है। सामान्यतया हम इन्ही अक्षांश, देशान्तर व रेखांशों के माध्यम से कौन सा देश अथवा स्थान किस दिशा में स्थित है? इसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्राचीन व आधुनिक विधियों द्वारा हम विविध प्रकार से दिशा साधन कर सकते हैं।

---

[2] प्रसादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषताः । दिङ्मूढ़े कुलनाशः स्यात्तस्मात् संसाधयेद्दिशः ॥ वास्तुरत्नावली 3.1

[3]. बृ.वा.अ.दि.सा. श्लोक सं. 03

4.4 दिक् साधन की विविध शास्त्रीय विधियां

ज्योतिषशास्त्र में दिक्साधन करने हेतु शङ्कु का बहुत महत्त्व है। अथर्ववेद के उपवेद रूप में प्रसिद्ध वास्तुशास्त्र में भी दिग्ज्ञान के शुद्धिकरण हेतु शंकु के प्रयोग का वर्णन भी उपलब्ध होता है। ग्राम -नगर-पुर-गृह आदि के निर्माण में शंकु का पर्याप्त महत्त्व रहता है। उपर्युक्त बातों को जानकर हम यह भी कह सकते हैं कि दिक् साधन वास्तुशास्त्र का एक प्रयोजन है। शंकु मुख्यतया लकड़ी-लोहे-धातु आदि से निर्मित एक दण्डिका होती है। जिसकी लम्बाई 12,18 या 24 अंगुल की तथा उसके आधार की चौड़ाई 4, 5 अथवा 6 अंगुल की हो सकती है। इसी प्रकार यह दण्डिका सूची के आकार की होती है। जो स्थान अथवा देश या क्षेत्र जहां हमें निर्माण का कार्य करना है उस निर्धारित स्थान के केन्द्र पर ही शंकु की स्थापना की जाती है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि जहां जिस भूखण्ड पर शंकु की स्थापना की जाती है वहां उस भूखण्ड को मण्डलों में बांटा जाता है तथा इस प्रकार जिस मण्डल में स्थापित किया जाता है उस स्थान को केन्द्रीय मण्डल कहा जाता है। वस्तुतः शंकु की छाया के माध्यम से यहां दिक् साधन किया जाता है। जिसका विस्तृत विवरण आगे प्रस्तुत है-

4.4.1 शङ्कु द्वारा दिक्साधन विधि

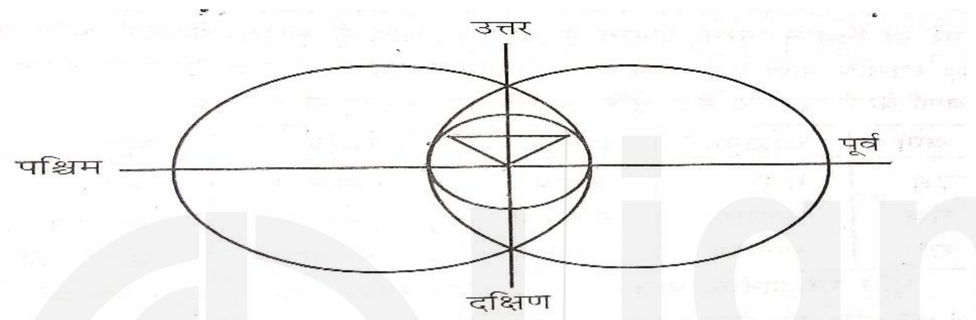
इस इकाई के अध्ययन से हम अब तक जान चुके हैं कि दिश के सही निर्धारण में शंकु का बहुत महत्त्व है। किसी भी ग्राम -नगर-पुर-भवन आदि के निर्माण कार्य में दिक्साधन के बिना यहां वास्तुपदों के माध्यम से किये जाने कार्यो की सम्यक क्रियान्विति लगभग असम्भव है। अतः दिक् साधन करना वास्तुशास्त्र की एतिहासिक परम्परा में निर्बाध गति से होता आ रहा है। शंकु के माध्यम से दिशा साधन का वैज्ञानिक महत्त्व भी है। दिशाओं पूर्व दिशा का भी आध्यात्मिक व वैज्ञानिक महत्त्व भी है। प्रातः कालीन रश्मियां हमें आरोग्य देती है, पुष्टता देती है, हमारे वातावरण को स्वच्छ व निर्मल बनाती है। एतदर्थ किसी भी निर्माण से पूर्व हमें यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियां उस निर्माण पर निर्वाध गति से पड़े अर्थात् कोई अवरोध न रहे।

वस्तुतः क्षितिज पर जहां नित्य हमें सूर्योदय होता दिखाई देता है वह पूर्व दिशा तथा जहां नित्य सूर्य छिपता हुआ नजर आता है उसे हम पश्चिम के नाम से जानते हैं। इसमें दिग्ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता भी दृष्टिगोचर हो रही है। अतः इसी पूर्व व पश्चिम बिन्दु को अच्छे से जानने के लिए हमारे आचार्यो द्वारा अनेक विधियों का प्रतिपादन किया गया है। जिस में शंकु को आधर मानकर हम सर्वप्रथम सूर्यसिद्धान्त के अनुसार हम दिक् साधन की चर्चा करते है -

4.4.2 सूर्य सिद्धान्तोक्त दिक्साधन विधि

सूर्यांश पुरुष के उपदेशों से हमें पता लगता है कि सूर्यसिद्धान्त में भी दिक्साधन करने हेतु शंकु का प्रयोग दिखता है तथा शास्त्रों में भी दिक् साधन हेतु शंकु का प्रयोग भी हम बहुतायात में देखते हैं। वहीं आचार्य भास्कर ने अपने ग्रन्थों में क्रान्ति के संस्कार कर दिक्साधन को प्रस्तुत किया है। तथा सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में सूर्यांश पुरुष के द्वारा मय को शङ्कु के माध्यम से छाया के प्रवेश तथा निर्गम स्थान से दिक्साधन की विधि का उपदेश किया गया है। इसमें मत्स्याकार रेखा से कोणीय दिशाओं अथवा विदिशाओं का प्रमाण भी मिलता है। अतः सूर्यासिद्धान्त में दिक्साधन हेतु स्पष्ट लिखा है कि सबसे पहले जल के द्वारा अच्छी तरह शोधित कर सभी ओर

से समतल भूमि पर, पत्थर के पृष्ठ पर अथवा वज्रलेप से समतल किये हुए दिक्साधन हेतु उपयुक्त भूमि के तल पर मध्याह्नकालिक छाया से अधिक अंगुल के शंकु अथवा 12 अंगुल का शंकु के मान से एक वृत्त का निर्माण करना चाहिए। अब इस वृत्त के केन्द्र में 12 अंगुल का शंकु अथवा मध्याह्नकालिक छाया से अधिक का शंकु स्थापित करें। इस प्रकार पूर्व में कहे गये वृत्त की परिधि में शंकु की छाया दिन के पूर्वार्द्ध एवं परार्द्ध में जहां स्पर्श करे उन बिन्दुओं को अर्थात् जो पूर्वार्द्ध में स्पर्श बिन्दु है वह पश्चिम तथा जो परार्ध में स्पश बिन्दु रहेगा वह पूर्व बिन्दु हैं। अब इन दो बिन्दुओं को परस्पर एक सीधी रेखा से मिलाएंगें तो यह रेखा पूर्व व पश्चिम को जोड़ते हुए पूर्वापर रेखा कहलाएगी इसी प्रकार इस रेखा पर मत्स्य उत्पादन द्वारा उतर व दक्षिण दिशा भी साधित हो जाएगी। अर्थात् मत्स्य की पूंछ व मुंह को मिलाने से एक याम्योत्तर रेखा, बन जाएगी जिसमें कि हमें उत्तर व दक्षिण दिशा प्राप्त हो सकेगी। जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है-



इसी प्रकार इन चारों दिशाओं के मध्य में भी मत्स्य रेखा द्वारा पूर्व उत्तर के बीच ईशान पूर्व दक्षिण के मध्य आग्नेय दक्षिण के मध्य नैऋत्य व पश्चिम -उत्तर के मध्य वायव्य नामक कोणीय अथवा विदिशा भी उपलब्ध हो जाएगी इसी प्रकार आठ दिशा जिनमें चार दिशा व चार विदिशाएँ रहेगी। जिसका प्रमाण सूर्यासिद्धान्त ग्रन्थ में इस प्रकार से मिलता है। यथा -

शिला तलेऽम्बुसंशद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे।
तत्र शंक्वङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत्॥

तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कु कल्पना द्वादशाङ्गुलम्।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्धयोः॥

तत्र बिन्दु विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्त्तव्या दक्षिणोन्तरा॥

याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा।
दिङ्मध्यं मत्स्यैः संसाध्य विदिशस्तद्वदेव हि॥[4]

4.4.3 भास्कराचार्य के अनुसार दिक्साधन

ज्योतिषशास्त्र के अद्वितीय ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में आचार्य भास्कर ने शङ्कु के माध्यम से दिक् साधन करने की विधि का वर्णन किया है। जिसमें उन्होने भी जल के समान भूमि को

[4]. सूर्यसिद्धान्त त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक संख्या 01.04

अथवा जहां निर्माण करना है उस स्थल को समतल करके वहीं बारह अंगुल के शंकु को वृत्त के केन्द्र में रख कर पूर्वाह्न व पराह्न काल में शंकु की छाया वृत्त की परीधि को जहां स्पर्श करे वह पूर्व-पश्चिम दिशा होगी अर्थात् पूर्वाह्न में जिस बिन्दु को शंकु छाया स्पर्श करे वह पश्चिम और अपराह्न काल में वृत्त की परिधि को जहां से छाया बाहर निकले उस बिन्दु को पूर्व कहेंगे। इसी प्रकार उस समय की क्रान्तियों का अन्तर करके छायाकर्ण से गुणाकर लम्बज्या का भाग देने से जो अंगुलादि मान मिले उससे अयन की दिशा मे चलित करने से पूर्व दिशा प्राप्त होती है। इस पर पूर्वापर रेखा स्थापित करके मत्स्य उत्पादन द्वारा बाकी दो दिशाओं अर्थात् उत्तर- दक्षिण दिशाओं को भी प्राप्त कर लिया जाता है। इस सन्दर्भ में भास्करचार्य जी ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में स्पष्ट किया है-

वृत्तेऽम्भः सुसमीकृत क्षितिगते केन्द्रस्थशङ्कोः क्रमाद्विभागं यत्र विशत्यपैति च यतस्तत्र परेन्द्रयौ दिशौ।
तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्धाकर्णमित्याहता ल्लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयन दिश्यैन्द्रीस्फुटाचालिता ।।[5]

4.4.4 विषुवदिन से दिक्साधन

वस्तुतः जब सूर्य विषुव राशियां अर्थात् मेष अथवा तुला में प्रवेश करता है उस दिन को ही विषुव दिन के नाम से जानते हैं। अगर हम आधुनिक कैलेण्डर के अनुसार जाने तो प्रायः 21 मार्च तथा 23 सितम्बर को विषु वदिन माना जाता है। इस दिन, दिन-रात्रि दोनो बराबर रहते हैं क्योंकि इस दिन सूर्य विषुवत् रेखा के ठीक बीच से होकर अपनी परिक्रमा करता है। अतः इस दिन भी हमारे शास्त्र दिक्साधन करने का विधान करते हैं। दिक्साधन के लिए इन दिनों अर्थात् 21 मार्च व 23 सितम्बर को प्रातःकाल पूर्व की विधियों की तरह 12 अंगुल के शंकु से दिक्साधन करते हैं इसमें भी प्रातःकाल एक वृत्त बनाकर उसके केन्द्र में शंकु स्थापित करके मध्याह्न से पूर्व शंकु की छाया उस वृत्त की परिधि को जहां से स्पर्श करेगी वह पश्चिम दिक् तथा मध्याह्न के पश्चात् अपराह्नकाल में वह छाया वृत्त की परिधि को जहां से स्पर्श करती है वह पूर्व दिशा होती है। इस प्रकार इन दोनों बिन्दुओं को मिलाने से पूर्वापर रेखा के माध्यम से हम पूर्व-पश्चिम दिशा प्राप्त कर लेते है। अब गणितीय विधि द्वारा इस पूर्वापर रेखा पर मत्स्य रेखा द्वारा याम्योत्तर रेखा भी खींची जाती है जिसके माध्यम से हमें उत्तर तथा दक्षिण दिशा भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया के द्वारा हम अन्य दिनों में भी सूक्ष्म दिक् ज्ञान कर सकते है।

अन्य मत से कहे तो किसी भी दिन मध्याह्न में शंकु की सबसे छोटी छाया उत्तर दिशा की तरफ होती है वहीं इसके विपरीत दक्षिण दिशा मिलती है। इस प्रकार उत्तरदिशा से सूर्योदय की तरफ 90° अंश की दूरी पर सूक्ष्म पूर्व दिशा होती है। तथा इसी प्रकार उत्तर से सूर्यास्त की तरफ 90° अंशात्मक दूरी पर सूक्ष्म पश्चिम दिशा प्राप्त होती है। इस प्रकार विषुवदिन के आधार पर हम सरल तरीके से दिक् ज्ञान को समझते हैं।

4.4.5 गणेश दैवज्ञ के अनुसार दिक्साधन विधि

ग्रहलाधवकार आचार्य गणेशदैवज्ञ के अनुसार दिक् ज्ञान की विधि को इस इकाई में समझते है। इनके अनुसार भी सबसे पहले भूमि को समतल बनाना है फिर इस पर वृत्त बनाकर इसके केन्द्र

---

[5]. सि.शि. त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक संख्या 08

में 12 अंगुल का शंकु स्थापित करना चाहिए फिर हम इस शंकु की छाया प्रातःकाल जहां से प्रवेश करे वह पश्चिम दिग् बिन्दु तथा अस्तकाल में जहां से निर्गमन करे वह बिन्दु पूर्व दिशा का होता है। इन दोनों शंकु छाया के प्रवेश व निर्गमन बिन्दुओं को परस्पर मिलाकर पूर्वापर रेखा प्राप्त की जाती है। अब इस पूर्वापर रेखा के बिन्दुओं से मत्स्य रेखा का उत्पादन कर मत्स्य के पूंछ और मुख को मिलाने से हमें उत्तर व दक्षिण दिशा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अर्थ यह है कि पूर्वापर रेखा के मध्य बिन्दु पर किया हुआ लम्ब ही दक्षिण व उत्तर दिशा का द्योतक होगा। इस सन्दर्भ में आचार्य गणेश ने कहा भी है कि-

वृत्ते समभगते तु केन्द्रस्थितशङ्कोः क्रमशो विशत्यपैति।
छायाग्रमिहापरा च पूर्वा ताभ्यां सिद्धति मेरुदक् च याम्या ।।[6]

4.4.6 नक्षत्र के अनुसार दिक्साधन

नक्षत्रानुसार दिक्साधन के सन्दर्भ में वास्तुरत्नावली में उद्धृत है कि –

प्राक् साध्योज्जयिनीस्थलाद्यमदिशि त्वाष्ट्रानिलाभ्यन्तरा।
सौम्येतोऽग्न्युदयादुदग्ध्रुव मुखाद्दिङ्गूढके स्यान्मृतिः ।।[7]

अर्थात् भाव यह है कि उज्जयिनी जो कि वर्तमान में उज्जैन के नाम से प्रसिद्ध है वहां से दक्षिण दिशा के देश में चित्रा तथा स्वाती नक्षत्र के बीच से पूर्व दिशा होती है। ठीक इसी प्रकार उज्जैन से उत्तर दिशा में कृत्तिका नक्षत्र के उदय से पूर्व दिशा का ज्ञान करना चाहिए। रात्रि में ध्रुव तारे को देखकर उत्तर दिशा का ज्ञान करना चाहिए। इसी प्रकार से दिक्साधन करके गृह आदि का निर्माण करना चाहिए। यहां यह भी कहा है कि अगर गृह आदि के निर्माण में दिक्साधन का ध्यान नहीं दिया गया तो उसका परिणाम मृत्यु भी हो सकती है। इसी सन्दर्भ में विशेषरूप में अन्य मत भी मिलता है। यथा-

चित्रास्वात्यन्तरे श्रोणाद्दक्षिणापथवासिनाम्।
प्राची तु कृत्तिका ज्ञेया उत्तरापथवासिनाम् ।।[8]

इसका भाव यही है कि दक्षिणपथ अर्थात् नर्मदा नदी के दाये भाग में चित्रा व स्वाती नक्षत्रों के मध्य में पूर्व दिशा जानना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरापथ यानी नर्मदा नदी से बायीं तरफ अथवा उत्तरी भागों में कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व दिशा जाननी चाहिए।

इसी प्रकार से कृत्तिका, पुष्य, श्रवण व चित्रा तथा स्वाती का अन्तर पूर्व दिशा है यानि जिस प्रकार से गणितीय विधि से कृत्तिका वेध की तरह पुष्य और श्रवण को भी वेध करके पूर्व दिशा को जानना चाहिए। दो घड़ी नक्षत्र के उपर चले जाने पर यह वेध करना चाहिए। यथा-

कृत्तिका श्रवणं पुष्य चित्रास्वात्योर्यदन्तरम्।
एतत्प्राच्या दिशो रूपं युगमात्रोदिते पुरे ।।[9]

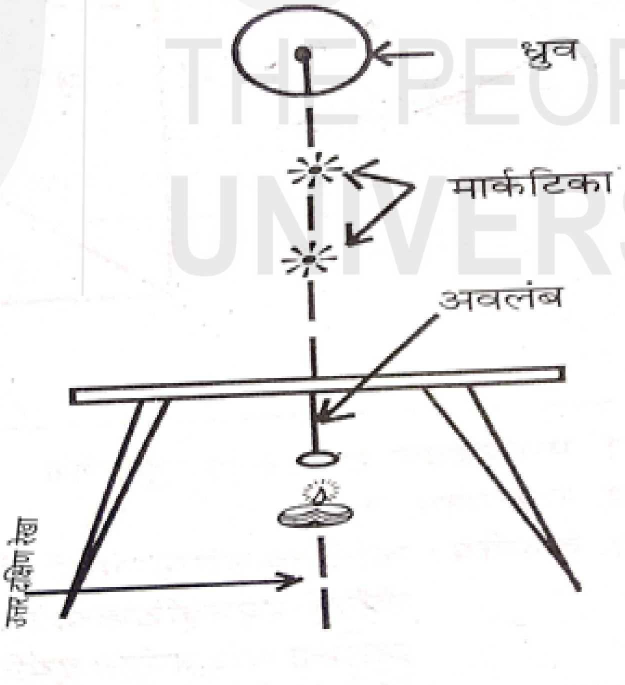
---

[6]. वास्तुरत्नावली, दिग्ज्ञानाध्याय - श्लोक 05
[7]. वास्तुरत्नावली, दिग्ज्ञानाध्याय, श्लोक 06
[8] वास्तुरत्नाकर 02.05
[9] वहीं 02.06

विश्वकर्मा प्रकाश में भी नक्षत्र के आधार पर दिक्साधन बताया गया है कि रात्रि में कृत्तिका नक्षत्र जिस दिशा में या जिस जगह उदय होता है वह पूर्वदिशा होती है इसी तरह श्रवण नक्षत्र भी पूर्व दिशा में उदय होता है। जैसा कि पूर्व में बता भी चुके हैं चित्रा व स्वाती के मध्य में भी पूर्व दिशा रहती है। इसी तरह 21 मार्च और 23 सितम्बर अर्थात् विषुव दिन में सूर्य उदय की दिशा पूर्व में रहती है। अन्य दिनों में वहां से हल्का सरक जाता है। इसी प्रकार इन्ही दिनों में दिन में सूर्य व रात्रि में नक्षत्र उदय की दिशा भी पूर्व ही रहती है। यदि श्रवण-पुष्य चित्रा स्वाती के मध्य पूर्वदिशा का अनुमान है तो सूर्योदय के एक घड़ी समय व्यतीत होने तक हम सटीक पूर्व दिशा समझ सकत हैं।[10]

4.4.7 ध्रुवतारे के माध्यम से दिक्साधन

वास्तुराजवल्लभ में ध्रुवतारे द्वारा दिक्साधन की विधि को बताया गया है कि ध्रुव तारेके उपर मार्कटिका नाम की दो तारिकाएँ जब भ्रमण के दौरान तारे के साथ सीधी रेखा में आ जाए, तो उस ओर ही उत्तर दिशा रहती है, मार्कटिका की दोनों तारिकाओं तथा अवलम्ब के एक सूत्र में होने पर अवलम्ब के पीछे घड़े पर दीप रखने पर दोनों तारिकाएँ एक सूत्र में आ जाए तब दीपक की तरफ वाली दिशा दक्षिण होगी और तारिकाओं के तरफ वाली दिशा उत्तर होगी। इसको समझने के लिए 32 अंगुल का वृत्त बनाएं फिर उसमें 12 अंगुल का शंकु केन्द्र में रखें जहां इसकी छाया वृत्त में प्रवेश करे वहां पश्चिम दिशा तथा जिधर सूर्योदय होगा उधर पूर्व दिशा होगी। इस प्रकार चारों दिशाओं का ज्ञान हो जाता है।[11] जैसा कि नीचे चित्र द्वारा समझ सकते हैं, यथा -



[10] . विश्वकर्माप्रकाश 54-56

[11] **तारे मार्कटिके ध्रुवस्य समतां नीतेऽवलम्बे नते दीपाग्रेण तदैक्यतश्च कथिता सूत्रेण सौम्या ककुद्। शङ्कोर्नेत्रगुणे तु मण्डलवरे छायाद्वयान्मत्स्ययोर्जाता यत्र युतिस्तु शङ्कुतलयो याम्योत्तरे स्तः स्फुटे ।। वास्तुरत्नावली दिग्ज्ञानाध्याय श्लोक 08**

4.4.8 मयोक्त दिक्साधन

आचार्य मय के अनुसार प्रातःकाल समतल भूमि पर शंकु को स्थापित करने के निर्देश देते हैं। कहते हैं कि शंकु से दोगुना प्रमाण का वृत्त बनाएं। उस वृत्त पर शंकु की छाया मध्याह्न से पहले तथा बाद में वृत्त में जहां स्पर्श करती है उस स्थान को चिन्हित कर देना चाहिए। यदि इन दोनों बिन्दुओं को परस्पर जोड़ दिया जाए तो पूर्वापर रेखा बन जाती है इसमें पूर्व व पश्चिम दिशा प्राप्त हो जाती है। अब इन दोनों बिन्दुओं से मत्स्य रेखा बनाई जाए तो उत्तर दक्षिण दिशा का ज्ञान हो जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य और भी कहते है कि पूर्व व पश्चिम के बिन्दु को केन्द्र मानते हुए दो वृत्तों की रचना करें। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि कन्या व वृष राशि में सूर्य के रहते अपच्छाया नहीं होती जबकि मेष, मिथुन, सिंह और तुला राशि में सूर्य के रहने से अपच्छाया का प्रमाण दो अंगुल प्राप्त होता है। इसी तरह कर्क, वृश्चिक व मीन राशि में चार अंगुल तथा धनु व कुंभ राशि में सूर्य के रहते छः अंगुल और मकर राशि में सूर्य के रहते आठ अंगुल की अपच्छाया प्राप्त होती है तथा पूर्व व पश्चिम छाया में दायें व बायें उचित संशोधन करते हुए रेखा बनाकर उत्तर दक्षिण दिशा का ज्ञान करना चाहिए।[12]

4.4.9 दिनमान से दिक्साधन

दिनमानदले सप्ताङ्गुल छायाग्रतो हि यत्।
शङ्कुमूले नीयमानं सूत्रं स्यादुत्तरा दिशा॥

बृहद्वास्तुमाला के दिक्साधनाध्याय में कहा है कि दोपहर के समय सात अंगुल के शंकु के छायाग्र से शंकु केन्द्र तक सूत्र ले जाने पर वह सूत्र याम्योत्तर रेखा होगा। इसके द्वारा उत्तर-दक्षिण दिशा का ज्ञान होगा। इस प्रकार से इस रेखा पर मत्स्योत्पादन से हम पूर्व व पश्चिम दिशा भी प्राप्त कर सकते हैं।

4.5 दिक्साधन की आधुनिक विधि

अब तक इस इकाई मे हमने दिक्साधन की विविध शास्त्रीय विधियों का अध्ययन कर लिया है। परन्तु वर्तमान में दिक् साधन हेतु प्राचीन विधियों के साथ साथ कुछ आधुनिक विधियां भी प्रयोग में हैं। वस्तुतः सर्वविदित है कि वर्तमान काल यंत्रप्रधान काल है अतः लगभग हर कार्य यन्त्रों के द्वारा करने का प्रयास हो रहा है। एतदर्थ यह स्वाभाविक है कि दिक्साधन हेतु भी यंत्रों का सहारा लिया हो। इसलिए वर्तमान काल में प्राचीन विधियों के द्वारा दिक्साधन करने की विविध प्रक्रियाओं से बचकर केवल कुतुबनुमा जिसको कम्पास (compass) के नाम से जानते हैं, का प्रयोग करते है। कम्पास से दिक् साधन बहुत सरल तरीके से कर लिया जाता है। इसमें चुम्बक का प्रयोग होता है। अतः उत्तरी ध्रुव के पास चुम्बकीय ध्रुव, ऊर्जा से भरपूर एक क्षेत्र विशेष है जिसका सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रभाव पड़ता है। ये उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर सतत चलने वाली चुम्बकीय तरंगे है जो मानव मन मस्तिष्क व समस्त शरीर तथा जीव जगत पर अपना प्रभाव डालती है। इसी आधार पर दिक् सूचक यन्त्र का आविष्कार किया गया था। इस यन्त्र द्वारा हम सरलता से उत्तर दिशा का पता कर सकते है। अब हम समझ सकते हैं कि हमें यदि एक दिशा का पता लग जाता है तो हम बाकी अन्य दिशाओं का भी पता लगा सकते हैं। जैसे उत्तर दिशा का पता लगते ही हम उत्तराभिमुख होकर खडे होगे तो उत्तर से 90° अंश दायीं

[12]. मयमत 6.6-13

तरफ पूर्व व 90° बायीं तरफ पश्चिम हो जाएगी तथा उत्तर से ठीक 180° अंश दूरी पर दक्षिण दिशा आयेगी। इस प्रकार हम चारों दिशाओं का ज्ञान कम्पास द्वारा कर सकते हैं। यह कम्पास यन्त्र आजकल बाजार में खूब मिल रहा है।

वस्तुतः इस चुम्बकीय दिक्सूचक यन्त्र का आधार पृथ्वी का घूर्णन है क्योकि पृथ्वी के घूर्णन से एक प्रकार का चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। यह चुम्बकीय क्षेत्र उत्तर से दक्षिण की तरफ सदा प्रवाहित रहता है। इसलिए हम उत्तरी ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव के नाम से इस चुम्बकीय उर्जा क्षेत्र को समझते आ रहे हैं। परन्तु अभी नई शोध से पता चला है कि ये दोनों चुम्बकीय उर्जा क्षेत्र भी स्थिर नहीं है तथा लगभग 40 से 50 किलोमीटर की गति से प्रतिवर्ष सरक रहा है अतः दिक्सूचक यन्त्र से गलती होना भी स्वाभाविक हैं। अतः यह यन्त्र आधुनिक तो है परन्तु इससे दिक्साधन करने में दोष आ सकता है अतः हमारी प्राचीन शास्त्रीय विधियों का प्रयोग करते हुए हम अगर दिक्साधन करते हैं तो सही रहेगा क्योंकि इन पद्धतियों में शंकु की छाया से दिशा ज्ञान किया जाता है।

4.6 दिक् साधन की प्राचीन व आधुनिक विधियों में अन्तर

वस्तुतः हम दिक्साधन करने हेतु प्राचीन व नवीन दोनों ही प्रकार की विधियों को अपना सकते हैं परन्तु इनमें दिक्ज्ञान की शुद्धता व सटीकता होना पहली आवश्यकता है। हमारे शास्त्रों में शास्त्रकारों ने दिक्साधन का विशद विवेचन करके एक विशिष्ट विषय के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत जाता है। इसके माध्यम से विविध कार्य व गणनांए सम्पादित की जाती हैं। सामान्यतः व्यवहार में लायी जाने वाली दिशाओं में अगर कुछ अंशात्मक ही दोष हो अर्थात् मात्र कुछ अंशों का ही अन्तर हो तो वह ग्राह्य है अतः उसे दोषकार नहीं मानते हैं। किन्तु जब हम गणितीय पद्धति से गणना के क्षेत्र में अंशात्मक अन्तर पाते हैं तो परिणाम बदल जाते है जो कि शास्त्रीय प्रमाणों में अन्तर उत्पन्न कर सकता है।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक नवीन दिक् साधन विधियां भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि इस इकाई के अध्ययन से हमने जाना कि प्राचीन विधियों में सूर्य की गति ध्रुव की स्थिति, नक्षत्रों की स्थिति दिनमान विषुवदिन आदि के आधार पर दिक् साधन करते हैं। जबकि वर्तमान में दिक्सूचक यन्त्र भूमि के चुम्बकीय प्रभाव के कारण कार्य करता है। हालांकि इनमें दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे एक साथ पास-पास में दो चुम्बकीय यन्त्र रखें हो तो दोनों में परिणाम भिन्न आ सकते हैं। किसी बड़ी चुम्बक के क्षेत्र में आने से भी कम्पास आदि यन्त्र सही-सही परिणाम नहीं दे पाते हैं। इसलिए प्राचीन विधियां प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। आधुनिक चुम्बकीय दिक् साधक यन्त्र में कुछ वैज्ञानिक त्रुटियां भी रह सकती है क्योंकि प्राचीन विधियां शंकु आदि पर आधारित होती है इसलिए खगोल पर वास्तविक उत्तर दिशा प्राप्त करने में अन्तर आ सकता है। चुम्बकीय (कम्पास) यन्त्र में सूई का जीरो अंश उत्तर दिशा का सूचक है जो कि पृथ्वी के उत्तरीध्रुव का 90° अंश अक्षांश को नहीं दर्शाता अपितु यह लगभग 82 अंश उत्तरी अक्षांश को दिखाता है। इसलिए आठ अंश का अशुद्धि तो साक्षात् दिख ही रही है। अतः कार्य की स्थिति को देखते हुए सुधीजन दिक्साधन विधि का चयन कर सकते हैं।

4.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने दिक्साधन की अनेक विधियों का अध्ययन करके यह पाया है कि मानव व्यवहार हेतु दिशाओं का ज्ञान होना परमावश्यक है। प्राचीन काल से ही दिशाओं के साधन व उनके स्वरूप को समझने के लिए इनका सटीक ज्ञान प्रमुखतः सूर्य के माध्यम से ही किया जाता रहा है। जहां एक तरफ शंकुच्छाया के माध्यम से दिशाओं का प्रतिपादन एकदम वैज्ञानिक है। वहीं वर्तमान काल के वैज्ञानिक युग में दिशाओं के परिज्ञान हेतु मात्र दिक्सूचक यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। जो कभी-कभी पूर्णतया शुद्ध परिणाम नहीं देते हैं। अतः हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि दिक्ज्ञान के लिए हमारी शास्त्रीय प्राचीन विधियां ही उपयुक्त व तर्कसंगत हैं।

4.8 शब्दावली

दिक् = दिशा**, प्राची** = पूर्व दिशा, **ईशान** = उत्तर पूर्व दिशा के मध्य की कोणीय दिशा, **आग्नेय**= पूर्व दक्षिण दिशा के मध्य की कोणीय दिशा, **नैऋत्य** = दक्षिण-पश्चिम के मध्य की कोणीय दिशा, **वायव्य**= पश्चिम-उत्तर दिशा के मध्य की कोणीय दिशा, **सृष्टिक्रम** = दक्षिणावर्त, **राजप्रासाद** = राजा का भवन, **ध्यातव्य-**ध्यान देने योग्य, **आक्षांश**=देश विशेष से ध्रुव की अंशात्मक उंचाई, **देशान्तर -** दो रेखा देशों के मध्य का अन्तर, **शंकु**=12 अंगुल की काष्ठ अथवा धातु से बनी छडी, **विषुव दिन** = जिस दिन सूर्य भूमध्य रेखा से होकर गुजरता है। **विदिशा**=दो मुख्य दिशाओं के मध्य स्थित कोण, **याम्योत्तर** = दक्षिण उत्तर, **पूर्वापर** = पूर्व-पश्चिम, **अपराह्न**= आधे दिन के बाद का भाग, **निर्बाध** = बाधाओं से रहित, **रश्मियां** = किरणें, **निर्मल**=मल रहित, **मत्स्य** - मछली, **उत्तरापथ** = उत्तर दिशा की तरफ, **दक्षिणापथ**= दक्षिण दिशा की तरफ, **यन्त्र**= उपकरण।

4.9 उपयोगी पुस्तकें

वास्तुरत्नावली- डॉ श्रीकृष्णाजुगनू - चौखम्भा ओरियन्टालिया दिल्ली

बृहद्वास्तुमाला- डॉ अशोक थपलियाल, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन -दिल्ली

विश्वकर्माप्रकाश- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन- वाराणासी।

वास्तुसार- प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी जी- ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली

सूर्य सिद्धान्त- कपिलेश्वर शास्त्री- चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस- वाराणासी

सिद्धान्तशिरोमणि- आचार्य भास्कर- सम्पादक बापूदेव शास्त्री-

चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस वाराणसी

4.10 बोध प्रश्न

1. वास्तुशास्त्र में दिक् साधन के महत्व को अपने शब्दों में स्पष्ट करें।
2. वर्तमान में वास्तुशास्त्रियों द्वारा दिक्साधन कैसे किया जा रहा है ? तथा यह कहां तक सही है ? टिप्पणी लिखें।
3. वास्तुशास्त्र में कितनी दिशाओं का उल्लेख है ? चित्र द्वारा स्पष्ट करें।

4. रात्रि में दिक् साधन कैसे करते हैं ? विस्तार से लिखें।
5. विषुवदिन और इसका महत्त्व क्या है ? विस्तार से लिखें।
6. सूर्यसिद्धान्तोक्त दिक् साधन कैसे करते हैं ? टिप्पणी लिखें।
7. दिक् साधन के सन्दर्भ में आचार्य मय द्वारा प्रदर्शित विधि को स्पष्ट करें।
8. नक्षत्र द्वारा दिक् साधन को स्पष्ठ करें।
9. आचार्य गणेश देवज्ञ के अनुसार प्रदर्शित दिक् साधन विधि को स्पष्ट करें।
10. वास्तुशास्त्र के आचार्य शंकु के माध्यम से दिक् साधन कैसे करते हैं ? स्पष्ट करें।

इकाई 5 काल की अवधारणा

इकाई प्रारूप

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको :

- प्राचीन और आधुनिक कालमानों का तुलनात्मक ज्ञान हो सकेगा
- शुक्ल-कृष्णादि मासों के शास्त्रीय दृष्टिकोण का अवबोध हो सकेगा।
- काल की महिमा को समझकर वास्तुशास्त्रोक्त काल को जान सकेंगे।
- काल के मूलभूत अंग व समस्त तथ्यों को समझने में समर्थ हो सकेंगे।
- काल क्या है इसके बारे में विस्तृत रूप से अधिगम कर सकेंगे।
- काल की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथा बृहत से बृहत्तम इकाई का ज्ञान हो सकेगा।

5.1 प्रस्तावना

वस्तुतः इस जगत में जो कुछ भी है वह सब काल के जाल में समाया हुआ है। वैदिक ऋषि यास्कानुसार काल वह शक्ति है जो सबको गति देती है। हमारे जीवन के आरम्भ से अन्तिम क्षण तक की गति का मूल कारण काल ही है। अगर हम काल के महत्व को समझे तो इस संसार में गति अथवा कर्म का मूलाधार काल ही है क्योंकि कोई भी गति या कर्म किसी काल में ही किया जाता है, चाहे वह सूक्ष्म हो या व्यापक। यह (काल) एक तरफ मृत्यु का पर्याय है तो भी सभी प्राणियों को क्षय की तरफ ले जाता है अर्थात् जैसे-जैसे समय व्यतीत होता है प्राणी क्षीण होता जाता है और अन्ततोगत्वा परमक्षय अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः वास्तुशास्त्र में काल का महत्व व्यापक रूप से प्रतिपादित है। काल का मुख्य आधार ही देश है क्योंकि देश के भेद से काल में भी भेद आ जाता है। अतः व्यक्ति के जीवन में होने वाले हर कार्य तथा घटने वाली हर घटना के पीछे निश्चित रूप से काल का हाथ होता है। आवास हेतु भूमि पूजन से लेकर भवन निर्माण - द्वार स्थापना- गृह प्रवेश मुहूर्त आदि का शोधन व समष्टि तथा व्यष्टिगत समस्त शुभाशुभ का विचार तक इसी काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं स्थूल दोनों रूपों द्वारा होता है अर्थात् सर्वत्र काल गणना का महत्व है ऐसा हमें स्वीकारना चाहिए। काल के विवेचन के बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं। इसके बारे में विस्तार से विवेचन करना आप अधिगमकर्ताओं को असहज कर सकता है इसलिए सामान्यतः जिन कालमानों की अपेक्षा इस पाठ्यक्रम में है उनका प्राथमिक रूप से इस इकाई में प्रतिपादन किया जा रहा है जिससे कि आप (अधिगमकर्ताओं) को समझने में सरलता हो सकेगी।

5.2 काल की अवधारणा व भेद

सामान्य जन मानस की दृष्टि में काल का नाम आते ही उनके चित्तपटल पर साक्षात् मृत्यु का भाव अंकित हो जाता है। वे इस काल को हम प्राणियों के प्राणों को हरने वाले यमराज के नाम से जानते है। अर्थात् सामान्य जन को हम इस सम्बन्ध में कहते हुए सुन भी सकते हैं कि

अरे तेरा काल आ गया यहां पर काल से तात्पर्य है कि तेरी मृत्यु आ गयी है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि काल का एक रूप तो साक्षात् काल (यम) है और दूसरा रूप काल का गणनात्मक (जिसकी गणना की जाए)है। यहां पर हम गणनात्मक काल को अधिगमकर्ताओं की सरलता के लिए काल को मुख्यतः **स्थूल काल और सूक्ष्म काल** के रूप में दो रूपों में बांट सकते हैं। जिनका विवरण निम्न है -

5.2.1 मूर्तकाल का स्वरूप अथवा स्थूल काल

जैसा कि सुविदित है स्थूल काल का ही दूसरा नाम मूर्तकाल भी है। यह काल की गणना करने में सबसे छोटी इकाई भी है, यही प्राणादिकाल भी है। प्राण का ही दूसरा नाम असु है। जैसे 1 प्राण किस स्वस्थ व्यक्ति के श्वांस लेने व छोड़ने का समय **10 दीर्ध अक्षर का उच्चारण काल त्र 10 विपल त्र 4 सेकेण्ड। इसी प्रकार 6 प्राण की एक विनाडी (पल), 60 विना**डी (पल) की। नाडी, 60 नाड़ी (घटी) का एक नाक्षत्र अहोरात्र कहा गया है। 30 अहोरात्र का एक मास होता है। दो सूर्योदयों के मध्य का काल सावन दिन कहलाता है। संक्षिप्त रूप से कह सकते है यथा -

क्रम	स्थूल काल अवधि	सामान्य कालखण्ड	टिप्पणी
01.	10 दीर्घाक्षर उच्चारण काल	01 प्राण	10 विपल
02.	06 प्राण	60 विपल	01 पल
03.	60 पल	01 नाड़ी (घटी)	24 मिनट
04.	60 नाड़ी	01 अहोरात्र (दिन - रात्रि)	नाक्षत्र दिवस
05.	30 अहोरात्र (दिन - रात्रि)	01 मास	
06.	06 मास	01 अयन	
07.	02 अयन	01 वर्ष	सौर वर्ष
08.	एक सौर वर्ष	एक दिव्य दिन	देवताओं का एक दिन
09.	360 दिव्य दिन	एक दिव्य वर्ष	360 सौर वर्ष
10.	1200 दिव्य वर्ष	कलियुग का मान	432000 सौर वर्ष
11.	2400 दिव्य वर्ष	द्वापर युग का मान	864000 सौर वर्ष
12.	3600 दिव्य वर्ष	त्रेता युग का मान	1296000 सौर वर्ष

13.	4800 दिव्य वर्ष	सत (कृत) युग का मान	1728000 सौर वर्ष
14.	12000 दिव्य वर्ष	चतुर्युगी अथवा महायुग (चारों युगों का मान)	4320000 सौर वर्ष
15.	71 चतुर्युगी/महायुग	एक मन्वन्तर (852000 दिव्य वर्ष)	306720000 सौरवर्ष
16.	14 मन्वन्तर	एक कल्प (ब्रह्मा जी का केवल सूर्योदय से सूर्यास्त के मध्य का समय)	4294080000 सौरवर्ष
17.	7200 दिव्यवर्ष, एक कल्प में सन्धिकाल	14 मन्वन्तरों में 15 सन्धिकाल होते हैं, 1 सन्धि का समय सतयुग तुल्य होता है, (4800 x 15 = 7200 दिव्य वर्ष)	25920000 सौर वर्ष
18.	1000 महायुग	एक ब्रह्मदिन (कल्प) = 14 मन्वन्तर + 15 सन्धिकाल	4320000000 सौरवर्ष
19.	02 कल्प	एक ब्रह्म अहोरात्र (ब्रह्मा जी का दिन-रात)	8640000000 सौरवर्ष
20.	720 कल्प	एक ब्रह्म वर्ष (360 दिन के तथा 360 कल्प रात्रि के)	3110400000000
21.	72000 कल्प (अपने मान से 100 वर्ष)	ब्रह्म आयु	311040000000000 सौर वर्ष
22. इसी प्रकार इसके अनन्तर नए ब्रह्मा जी की उत्पत्ति होती है, फिर से नई सृष्टि बनती है तथा यही क्रम आगे भी क्रमशः चलता रहता है।			

5.2.2 अमूर्तकाल का स्वरूप अथवा सूक्ष्मकाल

वस्तुतः इस अमूर्तकाल की सबसे छोटी इकाई त्रुटि है। दूसरे शब्दों में कहें तो हम कह सकते है एक सुई से कमल पत्र को छेदने में जितना समय लगता है वह त्रुटि है। इसलिए कहा भी है- **सूच्या भिन्ने पद्मपत्रे त्रुटिरित्यभिधीयते**। इसके अलावा भी अमूर्तकाल में रेणु- लव- लीक्षक भी आते हैं, जिन्हें हम इस प्रकार से समझ सकते हैं –

क्रम	सूक्ष्म काल	विवरण
01.	एक त्रुटि	सुई की नोक से पद्म (कमल) पत्र को भेदने में लगा समय।
02.	एक त्रुटि	($1 \div 3240000$ सेकिण्ड)
03.	60 त्रुटि	1 रेणु ($1 \div 54000$ सेकिण्ड)
04	60 रेणु	1 लव ($1 \div 900$ सेकिण्ड)
05.	60 लव	1 लीक्षक ($1 \div 15$ सेकिण्ड
06.	60 लीक्षक	1 प्राण (दश दीर्घ अक्षर के उच्चारण का काल)

5.3 काल के सन्दर्भ में दिवस के प्रकार

वस्तुतः यह सर्व विदित है कि जब तक सूर्य आकाश में रहता है तब तक दिन रहता है अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय दिन कहलाता है। इसे हम यदि शास्त्रीय दृष्टि से समझे तो जब सूर्य उदयक्षितिज से उपर उठता है तो दिन रहता है और जब अस्त (पश्चिम) क्षितिज से नीचे उतरता है तब रात्रि कहलाती है। इसी तरह के दिन और रात को मिलाकर एक अहोरात्र बनता है। काल के सन्दर्भ में दिन के चार प्रकार कहे गये हैं, जैसे - **सौर, चान्द्र, सावन तथा नाक्षत्र दिवस**। आइए अब इन चार प्रकार के दिनों के बारे में विस्तृत रूप से अध्ययन करते हैं-

5.3.1 सौर दिवस

सौर दिवस शब्द से ही ज्ञात हो रहा है कि कहीं न कहीं इस प्रकार के दिन का सम्बन्ध सूर्य से है। अतः शास्त्रीय मान्यता के अनुसार हम कह सकते हैं कि जितने समय में सूर्य एक अंश का भोग करता है उस समय को एक सौर दिवस अथवा सौर दिन कहते हैं। इस प्रकार एक अंश को भोगने में एक सौर दिन का समय लगता है अतः भ चक्र का एक भ्रमण (360 अंशों का भ्रमण) करने में सूर्य को 360 सौर दिन लगते हैं। सूर्य के द्वारा लगाए गए इसी एक भ्रमण को सौर वर्ष के नाम से जानते हैं।

5.3.2 चान्द्र दिवस

जैसे सौर दिवस का सम्बन्ध सूर्य से है इसी तरह चान्द्र दिवस का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। इस प्रकार के दिन को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि चन्द्र तीव्र गतिक ग्रह है तथा जब सूर्य और चन्द्रमां एक राशि अंश कला विकला पर होते हैं तब अमान्त अर्थात् अमावस्या का अन्तिम बिन्दु होता है। यहीं से जब सूर्य को छोड़कर चन्द्रमां आगे बढ़ जाता है और जब सूर्य से चन्द्रमा 12° (अंश) दूर हो जाता है तब इस समय से एक तिथि का निर्माण होता है। तिथि का दूसरा नाम ही चान्द्र दिवस अथवा चान्द्र दिन है। इस प्रकार तीस तिथियों का एक मास होता है तथा 12 मासों का एक चान्द्र वर्ष होता है। इस प्रकार के चान्द्र दिन एक एक वर्ष में 354 होते हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं कि एक वर्ष में 354 चान्द्र दिवस होते हैं।

5.3.3 सावन दिवस

सूर्य सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में सावन दिवस के सन्दर्भ में लिखा है **उदयोउदयाद्भानोर्भूमिसावनवासरः** अर्थात् सामान्य शब्दों में कहें तो एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के मध्य का समय सावन दिवस अथवा सावन दिन होता है। यह लगभग 24 घण्टे का होता है इसी को दिन रात यानी अहोरात्र भी कह सकते हैं। और भूमि पर व्यवहार में आने वाला दिन भी यही सावन दिन भी कहलाता है।

5.3.4 नाक्षत्रदिवस

वस्तुतः नाक्षत्र दिवस का मान निश्चित होता है इसके सन्दर्भ में आचार्यों ने ग्रन्थों में नाक्षत्र दिवस का तात्पर्य बताते हुए लिखा हैं कि **नाड़ीषष्ट्यातु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम्** यहां नाड़ी षष्ठी अर्थात् साठ घटी का एक नक्षत्र दिवस अथवा नाक्षत्र दिन कहा गया है। नाक्षत्र दिन का सम्बन्ध जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है कि नक्षत्र से है और यह 60 घटी अर्थात् 24 घण्टे का ही होता है यह इसका स्थिर मान है। इसकी अवधि में एक निमेष भी कम या अधिक नहीं होता है। सौर दिन हो या चान्द्रदिन अथवा सावन दिन इनका मान स्थिर नहीं है परन्तु केवल नाक्षत्र दिन ही मात्र एक ऐसा दिन है कि जिसका मान 60 घटी अथवा 24 घण्टे निश्चित है। सामान्यतया नक्षत्र शब्द के अर्थ से ज्ञात होता है कि **न क्षरतीति अथवा न गच्छतीति नक्षत्रम्** अर्थात् नक्षत्र का क्षय नहीं होता है अथवा नक्षत्र चलता नहीं है। इसका तात्पर्य हम उदाहरण से समझने का प्रयास करते हैं, जैसे किसी दिन हमने दिल्ली स्थित इन्दिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय से किसी नक्षत्र को दिन के दश बजे राशिचक्र में जहां वेध किया है, उसके अगले दिन 24 घण्टे बाद ठीक दश बजे इसी स्थान से वेध करने पर वह नक्षत्र निश्चित रूप से ठीक वहीं अर्थात् उसी स्थान पर आकाश में वेध होगा, अर्थात् वह नक्षत्र ठीक उसी स्थान पर दिखाई देगा जहां कल दिखाई दिया था।

5.4 चान्द्रमास में पक्ष विचार

सामान्यतया हम अब तक यह समझ चुके हैं कि सूर्य और चन्द्रमां के मध्य बारह - बारह अंश की दूरी से एक - एक तिथि का निर्माण होता है इसी तरह जब तीस तिथियों का निर्माण हो जाने पर इन तीस तिथियों के समूह को एक चान्द्रमास कहते हैं, जिसमें **चान्द्रमासीय शुक्लपक्ष** और **चान्द्रमासीय कृष्णपक्ष** नामक दो पक्ष होते हैं, जिनका विवरण निम्न हैं -

5.4.1 चान्द्रमासीय शुक्लपक्ष

भ चक्र में जब सूर्य और चन्द्रमां एक राशि अंश कला आदि पर स्थित होते हैं वह बिन्दु अमान्त अथवा प्रतिपदा का आदि बिन्दु होता है। यहां से जैसे ही चन्द्रमा अपनी अधिक गति के कारण सूर्य को पीछे छोड़ जैसे जैसे 12 - 12 अंश आगे बढ़ता है बैसे बैसे प्रतिपदा द्वितीया तृतीया आदि तिथियों का क्रमशः निर्माण होता चला जाता है, इसी तरह जब सूर्य और चन्द्रमा के मध्य 180 अंश का अन्तर आता है तब पूर्णिमां तिथि का समापन होता है यही दूरी अर्थात् गगनमण्डल में सूर्य और चन्द्रमां राश्यात्मक स्पर्श से 180 अंश की दूरी को मध्य के कालखण्ड को शुक्ल पक्ष कहते हैं। इस पक्ष में चन्द्रमां आकाश में चमकता है जिससे भूमण्डल पर श्वेत (शुक्ल) प्रकाश फैल जाता है इस कारण ही इस पक्ष को शुक्ल पक्ष कहते हैं।

5.4.2 चान्द्रमासीय कृष्णपक्ष

आकाश में जब सूर्य और चन्द्रमां परस्पर 180 अंश पर स्थित होते हैं तब वह पूर्णिमान्त अथवा प्रतिपदादि बिन्दू होता है अर्थात् पूर्णिमा का अन्तिम बिन्दु अथवा अग्रिम तिथि प्रतिपदा का प्रारम्भिक बिन्दु होता है । यहां से सूर्य और चन्द्रमा में क्रमशः 12 - 12 अंश की दूरी से प्रतिपदादि तिथियां बनती हैं तथा जब पुनः सूर्य व चन्द्रमां का मिलन होता है तथा एक राशि अंश कला विकला पर आ जाते हैं तब बह बिन्दु अमावस्या का अन्तिम बिन्दु होता है। सूर्य से 180 अंश की दूरी से चन्द्रमां का पुनः सूर्य से मिलन तक की दूरी ही कृष्णपक्ष कहलाता है । इस पक्ष में चन्द्रमां सूर्य की ओर आते आते सूर्य की चमक में खो जाता है जिस कारण भूमि पर अंधेरा छा जाता है अतः विद्वानों ने इस पक्ष को कृष्ण पक्ष का नाम दिया ।

5.5 मास की परिभाषा एवं भेद

वस्तुतः उपर्युक्त शुक्ल और कृष्ण पक्ष के मिलने पर एक मास का नाम दिया गया है । जैसा कि विदित है कि चन्द्रमा, सूर्य की अपेक्षा तीव्र गतिक ग्रह है इसलिए आकाश मण्डल में चन्द्रमा और सूर्य के राश्यादि स्पर्श से लेकर इनके पुनः चन्द्रमा और सूर्य के मिलने तक की यात्रा का नाम ही वास्तव में मास का नाम विद्वानों ने दिया गया है । परन्तु फिर भी आचार्यों ने मास के चार प्रकार बताए हैं । जो कि निम्नलिखित हैं -

5.5.1 सौरमास

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध सूर्य से है। अर्थात् जिस प्रकार 60 घटी मिलकर एक अहोरात्र का निर्माण करती है उसी प्रकार 30 अहोरात्र मिलकर एक मास का निमार्ण करते हैं । जिस प्रकार सूर्य द्वारा एक अंश को भोगने में लिया जाने वाला समय सौर दिवस कहलाता है, उसी तरह के 30 सौर दिवसों को मिलाकर एक सौर मास का निर्माण होता है । शास्त्रीय भाषा में कहें तो एक वर्ष में 12 संक्रान्तियां होती हैं, वास्तव में इन 12 संक्रान्तियों का नाम ही सौर मास है। सरल भाषा में कहें तो आकाश मण्डल में सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण को ही संक्रान्ति कहा जाता है । इसलिए सूर्य द्वारा एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति में प्रवेश तक के काल खण्ड का नाम ही सौर मास है । एक वर्ष में मेष - वृष - मिथुन - कर्क - सिंह - कन्या - तुला - वृश्चिक - धनु - मकर - कुम्भ - मीन नामक बारह संक्रान्तियां होती है तथा यही मेष - वृषादि संक्रान्तियां ही सौर मास के नाम से जानी जाती हैं ।

5.5.2 चान्द्रमास

चान्द्रमास का सम्बन्ध भी चान्द्र दिवसों से ही है । जिस प्रकार शुक्ल और कृष्ण पक्ष को मिलाकर तीस तिथियां होती हैं । इन्हीं तीस तिथियों के मान को चन्द्रमास कहते हैं । चान्द्रमास भी मेषादि 12 सौर मासों की तरह **चैत्र - वैशाख - ज्येष्ठ - आषाढ़ - श्रावण - भाद्रपद - आश्विन - कार्तिक - मार्गशीर्ष - पौष - माघ - फाल्गुन** आदि 12 चान्द्रमास ही होते हैं । गणितीय दृष्टि से समझें तो यह स्पष्ट है कि भ चक्र में 360 अंश होते हैं तथा 12 अंश की एक तिथि होती है । तो हम अगर 360 में 12 का भाग दें तो 30 शेष आता है यहीं तिथियां हैं जिनसे मिलकर चान्द्रमास का निर्माण होता है । तात्पर्य यह है कि इन तीस तिथियों में चन्द्रमा भ चक्र में सूर्य का एक भ्रमण कर लेता है यही भ्रमण काल एक चान्द्रमास कहलाता है । हमारे देश भारतवर्ष में दो प्रकार के चान्द्रमासों का प्रचलन प्राप्त होता है, यथा -

5.5.2.1 शुक्लादि चान्द्रमास

वस्तुतः मास की परिभाषा हम अब तक समझ ही चुके हैं तथापि शुक्लादि चान्द्रमास से तात्पर्य है कि जिस मास में शुक्ल पक्ष आदि में हो अर्थात् जिस मास के प्रारम्भ में शुक्ल पक्ष आता हो वह मास शुक्लादि मास होता है। सरल शब्दों में कहें तो जिस मास का प्रारम्भ शुक्ल प्रतिपदा से हो तथा मध्य में पूर्णिमां एवम् अमावस्या से समाप्ति हो वह मास शुक्लादि चान्द्रमास कहलाता है। इस मास को अमान्त मास भी कह सकते हैं।

5.5.2.2 कृष्णादि चान्द्रमास

जैसे कि कृष्णादि नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस मास के प्रारम्भ अथवा आदि में कृष्ण पक्ष आता हो वह कृष्णादि मास कहलाता है, और सरल भाषा में कहें तो जिस मास के प्रारम्भ में कृष्ण की प्रतिपदा आए तथा मास के मध्य में अमावस्या एवं पूर्णिमां तिथि से समापन हो वह मास कृष्णादि चान्द्रमास कहलाता है। इस मास को ही पूर्णिमान्त मास भी कहा जाता है।

सामान्यतः उत्तर भारत के अधिकांश हिस्सों में शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से संवत्सर का आरम्भ माना जाता है फिर भी मास व्यवस्था में प्रथम पक्ष कृष्णपक्ष को ही माना जाता है। इसी प्रकार मुख्यतः दक्षिण भारत में शुक्लादिमास व्यवस्था को मानते हैं। जहां पर शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या पर्यन्त 30 तिथियों का मास शुक्लादि चान्द्रमास होता है। इसमें पूर्णिमां मास की मध्यतिथि तथा अमावस्या मास की 30 वीं अर्थात् अन्तिम तिथि है। इस प्रकार कुछ प्रदेशों में शुक्लादि और कुछ प्रदशों में कृष्णादि चान्द्रमास प्रचलित हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। एक चान्द्रमास लगभग 29 दिन 8 घण्टे 44 मिनट 2 सेकेण्ड का होता है।

5.5.3 नाक्षत्रमास

सौरमास व चान्द्रमास के अनन्तर नाक्षत्रमास को भी समझने का प्रयास करते हैं यथा आकाश में प्रवादि सप्त वायु प्रवाहमान हैं जिनमें प्रवह नामक वायु से प्रेरित होकर सभी ग्रह निरन्तर अत्यन्त वेगायमान होकर पश्चिम दिशा में जाते हुए हमें प्रतिभासित होते हैं। इसी प्रवहवायु के प्रभाव से नक्षत्र पूर्व क्षितिज से चलकर जितने समय में पुनः उसी पूर्वी क्षितिज में आता है उस काल को ही नाक्षत्र दिन के नाम से जाना जाता है और यह 60 घटी अथवा 24 घण्टे की निश्चित अवधि का होता है। इस प्रकार के 30 नक्षत्र दिवसों से मिलकर एक नाक्षत्रमास बनता है। वर्तमान में यह मास इतना प्रचलित नहीं है।

5.5.4 सावनमास

जैसा कि हम पूर्व में ही जान चुके हैं कि **उदयोउदयाद्भानोर्भूमिसावनवासरः** के नियमानुसार एक सूर्योदय से अग्रिम सूर्योदय के मध्य के कालखण्ड को सावनदिन के नाम से जानते हैं। इसी प्रकार एक सूर्योदय से अग्रिम 30 सूर्योदयों वाले दिन अर्थात् 30 सावन दिन अथवा अहोरात्रों से मिलकर एक सावन मास का निमार्ण होता है। सामान्यतया इस प्रकार के (सावन) मासों का प्रचलन नहीं हैं।

5.6 वर्ष की परिभाषा एवं भेद

वस्तुतः वर्ष का तात्पर्य सौर वर्ष से है। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि हम जब भी वर्ष-मास-और दिन की चर्चा करेंगे तो वहां सामान्य रूप से वर्ष से तात्पर्य सौर वर्ष से तथा मास का तात्पर्य चान्द्रमास से व दिन से तात्पर्य सावन दिन से होता है फिर भी हम वर्ष को निम्न चार स्वरूपों में समझ सकते है

सौरवर्ष - चान्द्रवर्ष - सावनवर्ष - बार्हस्पत्यवर्ष

5.6.1 सौरवर्ष

वैसे हमने पहले ही चर्चा की हुई है कि सूर्य द्वारा एक अंश को भोगने में लिया जाने वाला समय, एक सौर दिन कहलाता है। इसी प्रकार के 30 सौर दिनों के मिलने से एक सौरमास होता है। इसी प्रकार 12 सौरमासों के काल खण्ड को एक सौर वर्ष के नाम से जानते हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं कि सूर्य आकाश में आज जिस राशि अंश कला विकलादि पर स्थित है पुनः इन्हीं राशि अंश कला विकलादि पर सूर्य को आने में ठीक 360 सौर दिन लगते है इसी कालावधि को एक सौरवर्ष के नाम से जानते हैं। सामान्य शब्दों में कहें तो सूर्य का एक भगण ही सौर वर्ष है।

5.6.2 चान्द्रवर्ष

चान्द्रवर्ष से हम समझ सकते है कि इसका सम्बन्ध चन्द्रमां से है। जिस प्रकार सूर्य चान्द्रमां की 12 अंशों की दूरी के अनुसार तिथियां बनती है उसी प्रकार 30 तिथियों से एक चान्द्रमास का निर्माण होता है। पूर्वलिखित चैत्र वैशाख आदि 12 चान्द्रमासों से एक चान्द्रवर्ष का निर्माण होता है। एक सौर वर्ष में प्रायशः 12 चान्द्रमास होते है, वहीं में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए की यदि किसी सम्वतसर में अधिक मास है तो उस सौर वर्ष में 12 के स्थान पर 13 मास होंगे तथा यदि किसी सम्वतसर में क्षय मास हुआ तो उस सौर वर्ष में 12 के स्थान पर 11 मास ही होंगे। इस चान्द्र वर्ष में लगभग 354 (सावन) दिन होते हैं। साथ ही यहां यह भी ध्यातव्य रहे कि चन्द्रमां एक राशि में लगभग सवा दो दिन रहता है और अपना एक भ्रमण लगभग 29 दिनों में पूर्ण करता है।

5.6.3 सावनवर्ष

वस्तुतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि दिवसात्मक मान को 30 से गुणा कर मासात्मक मान निकलता है। इसी प्रकार 30 सावन दिनों को मिलाकर एक सावन मास बनता। इस प्रकार 12 सावन मासों की गणना से मिलकर एक सावन वर्ष का निर्माण होता है। एक सौर वर्ष में लगभग 365 दिन होते हैं। वर्तमान में यह मास प्रचलन में नहीं है।

5.6.4 बार्हस्पत्यवर्ष

सम्वत्सर के आनयन में बार्हस्पत्य वर्ष का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः भूमि पर सामूहिक रूप से सुभिक्ष व दुर्भिक्ष आदि के फल का विवेचन बार्हस्पत्य वर्ष अथवा सम्वत्सर से किया जाता है। यह बार्हस्पत्य सम्वत्सर सूक्ष्म तौर पर 361 दिन के लगभग होता है। विजयादि क्रमशः 60 सम्वत्सर होते हैं। प्रत्येक 60 वर्ष के उपरान्त पुनः विजयादि 60 सम्वत्सर हुआ

करते हैं। मेषादि राशि में मध्यम बृहस्पति के रहने पर क्रमशः विजयादि सम्वत्सर होते है, इन 60 सम्वत्सरों के नाम निम्न हैं-

मेषादि राशि में में बृहस्पति के रहने पर क्रमश: विजय आदि सम्वत्सर

राशि	बृहस्पति के राशि संचरणानुसार क्रमशः विजयादि सम्वत्सर				
मेष	01.विजय	13.विश्वावसु	25.पिंगल	37. शुक्ल	49.वृष
वृष	02.जय	14.पराभव	26.कालपुत्र	38. प्रमोद	50.चित्रभानु
मिथुन	03.मन्मथ	15. प्लवङ्ग	27.सिद्धार्थी	39.प्रजापति	51.सुभानु
कर्क	04.दुर्मुख	16.कीलक	28.रौद्र	40.अङगिरा	52.तारण
सिंह	05.हेमलम्ब	17.सौम्य	29.दुर्गति	41.श्रीमुख	53.पार्थिव
कन्या	06.विलम्ब	18.साधारण	30.दुन्दुभि	42.भव	54.व्यय
तुला	07.विकारी	19.विरोधकृत	31.रुधिरोद्गारी	43.युवा	55.सर्वाजित्
वृश्चिक	08.शर्वरी	20.परिधावी	32.रक्ताक्ष	44.धाता	56.सर्वधारी
धनु	09.प्लव	21.प्रमादी	33.क्रोधन	45.ईश्वर	57.विरोधी
मकर	10.शुभकृत्	22.आनन्द	34.क्षय	46.बहुधान्य	58.विकृत
कुम्भ	11.शोभन	23.राक्षस	35.प्रभव	47.प्रभाथी	59.खर
मीन	12.क्रोधी	24. नल	36.विभव	48.विक्रम	60.नन्दन

जैसा कि विदित है पहले विजयादि की गणना प्रचलित थी। परन्तु आजकल विक्रम सम्वत् के आधार पर प्रभव आदि सम्वत्सर की गणना प्रचलित है। इसलिए आजकल पंचागों में विक्रम सम्वत्सर के आधार पर गणना होती है जिसमें प्रथम सम्वत्सर प्रभव आता है इसलिए यह क्रम विजयादि न होकर प्रभवादि सम्वत्सर होगा। यह क्रम इस तरह होगा - मेषादि राशि में बृहस्पति के रहने पर क्रमश: विजय आदि सम्वत्सर

राशि	बृहस्पति के राशि संचरणानुसार क्रमशः विजयादि सम्वत्सर				
मेष	01.प्रभव	13.प्रभाथी	25.खर	37.शोभन	49.राक्षस
वृष	02.विभव	14.विक्रम	26.नन्दन	38.क्रोधी	50. नल
मिथुन	03. शुक्ल	15.वृष	27.विजय	39.विश्वावसु	51.पिंगल

कर्क	04. प्रमोद	16.चित्रभानु	28.जय	40.पराभव	52.कालपुत्र
सिंह	05.प्रजापति	17.सुभानु	29.मन्मथ	41. प्लवङ्ग	53.सिद्धार्थी
कन्या	06.अङगिरा	18.तारण	30.दुर्मुख	42.कीलक	54.रौद्र
तुला	07.श्रीमुख	19.पार्थिव	31.हेमलम्ब	43.सौम्य	55.दुर्गति
वृश्चिक	08.भव	20.व्यय	32.विलम्ब	44.साधारण	56.दुन्दुभि
धनु	09.युवा	21.सर्वाजित्	33.विकारी	45.विरोधकृत	57.रुधिरोद्गारी
मकर	10.धाता	22.सर्वधारी	34.शर्वरी	46.परिधावी	58.रक्ताक्ष
कुम्भ	11.ईश्वर	23.विरोधी	35.प्लव	47.प्रमादी	59.क्रोधन
मीन	12.बहुधान्य	24.विकृत	36.शुभकृत्	48.आनन्द	60.क्षय

5.7 अयन की परिभाषा एवं भेद

सामान्यतया शास्त्र की दृष्टी से अयन का तात्पर्य गमन अथवा मार्ग से है। वस्तुतः एक सौरवर्ष में दो अयन होते हैं। जिन्हें सौम्यायन अथवा उत्तरायण तथा याम्यायन जिसे दक्षिणायन के नाम से जानते हैं। अन्य शब्दों में कहें तो नभोमण्डल में सूर्य का उत्तर की ओर गमन उत्तरायन और दक्षिण की ओर गमन दक्षिणायन कहलाता है। अर्थात् मकरसंक्रान्ति से मिथुनान्त तक सूर्य उत्तरायण रहता है तथा कर्कसंक्रान्ति से धनुरान्त तक सूर्य दक्षिणायन में रहता है। अतः स्पष्ट है सूर्य एक राशि में एक मास रहता है तो मकरादि से मिथुनान्त तक 6 राशि अर्थात् 6 माह तक सूर्य उत्तरायन में रहता है तथा कर्कादि से धनुरान्त तक 6 माह सूर्य दक्षिणायन में रहता है। इसे हम निम्न तालिका के माध्यम से भी समझने का प्रयास करते हैं:-

उत्तरायण या सौम्यायन	
मेष	मीन
वृष	कुम्भ
मिथुन	मकर
दक्षिणायन या याम्यायन	
कर्क	धनु
सिंह	वृश्चिक
कन्या	तुला

उपर्युक्त सारिणी द्वारा हम स्पष्टरूप से समझ सकते हैं कि जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है तब उत्तरायण का प्रारम्भ हो जाता है तथा मिथुनान्त तक उत्तरायण अथवा सौम्यायन रहता है। इसी प्रकार सूर्य के कर्क राशि में प्रवेश से धनु राशि के अन्तिम बन्दु तक रहने को दक्षिणायन के नाम से जानते है।

5.8 गोल की परिभाषा एवं भेद

वस्तुतः गोल भी अयन की तरह दो होते है। प्रथम उत्तरगोल द्वितीय दक्षिण गोल। गोल का सम्बन्ध भी सूर्य का राशियों में भ्रमण से है अर्थात् सूर्य जब मेष राशि से कन्या राशि पर्यन्त रहता है तब तक उत्तरगोल कहलाता है तथा तुला राशि से मीन राशि पर्यन्त रहने पर दक्षिण गोल मानते हैं। यह भी 6-6 माह में विभाजित होता है यथा 6 माह उत्तरगोल और 6 माह दक्षिण गोल में सूर्य रहता है। निम्न तालिका के माध्यम से और स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास करते हैं -

उत्तरगोल	**दक्षिणगोल**
मेष	मीन
वृष	कुम्भ
मिथुन	मकर
कर्क	धनु
सिंह	वृश्चिक
कन्या	तुला

इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि विषुवत रेखा या भूमध्य रेखा से उत्तर का भाग उत्तरगोल और भूमध्य रेखा से दक्षिण का भाग दक्षिण गोल कहलाता है।

गोल के सन्दर्भ में यहां यह भी ध्यातव्य है कि उत्तर गोल अर्थात् सूर्य के मेष से कन्या राशि में रहने तक का समय देवताओं का दिन कहलाता है तथा इसी प्रकार दक्षिण गोल अर्थात् सूर्य के तुला राशि से मीन राशि पर्यन्त रहने को ही देवताओं की रात्रि कहते है।

5.9 साराश

इस इकाई अध्ययन के उपरान्त हमने जाना कि यह काल अनन्त और अनादि होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसे किसी प्रकार के शब्दों में या एक परिभाषा में आबद्ध कर देना कोई सरल कार्य नहीं है। पुराणों में काल की महिमा का कीर्तन करते हुए कहते हैं कि यही काल है जो इस सृष्टि का कर्ता भी है संहर्ता भी। कहा भी है - **कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।** सूर्य सिद्धान्त में भगवान सूर्य स्वयं काल के रहस्य को निरूपित करते हुए कहते हैं कि **लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽनयः कलनात्मकः। स द्विधा स्थूल सूक्ष्मत्वात् मूर्तश्चामूर्त उच्यते।**

अर्थात् इसके बारे में हम पढ़ भी चुके हैं कि काल के दो भेद है प्रथम अन्तकृत लोक का नाश करने वाला तथा द्वितीय काल कलनात्मक है। यह कलनात्मक काल भी मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार का है। इसको हम यूं भी समझ सकते हैं कि जो व्यवहार योग्य काल है वह स्थूल अथवा मूर्त है तथा जो व्यवहार योग्य नहीं है वह सूक्ष्म या अमूर्त काल है। वस्तुतः गणितीय दृष्टि से दोनों काल, काल की दो अवस्थाएं ही हैं। अतः ये दोनों काल ही हैं। किसी की भी उत्पत्ति एक कालखण्ड में ही होती है तथा जिसकी उत्पत्ति होती है उसका लय होना भी सुनिश्चित ही है यह सब काल की ही महिमा है। यही उत्पत्ति लय का सिद्धान्त प्रकृति पर भी लागू होता है, इसमें सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक की कालावधि कलनात्मक काल ही है। इसके ही दो विभेद बताये हैं जिनकी चर्चा इस इकाई के प्रारम्भ में मूर्त और अमूर्त काल के रूप में कर चुके हैं। जैसे हम सभी अपना कार्य सूर्योदय होने पर अर्थात् दिन के होने पर करने लगते हैं तथा सूर्यास्त पर अपना सारा कार्य समेट लेते है ठीक इसी प्रकार भगवान ब्रह्मा भी अपने दिन कल्प के हिसाब से सृष्टि निर्माण की प्रकिया प्रारम्भ करते है तथा सूर्यास्त या सब कुछ समेट कर सोने चले जाते है इसी काल अवधि को एक कल्प कहा तथा ब्रह्मा की रात्रि को भी एक कल्प के तुल्य माना फिर पुनः ब्रह्मा का दिवसारम्भ होता है फिर वे सृष्टि को रचते है और पुनः सूर्यास्त पर सब कुछ समेट लेते है। सृष्टि का यही क्रम चलता रहता है। इस प्रकार सारांश के तौर हम कह सकते है कि सष्ट्यन्त और कल्पान्त दोनों ही काल की महत्तम इकाई के पर्याय हैं। ठीक इसी प्रकार स्थूल काल की लघुत्तम इकाई प्राण तथा सूक्ष्म काल की लघु इकाई त्रुटि कही गयी।

5.10 शब्दावली

राशि	=	सवा दो नक्षत्रों के समूह को राशि कहते है ये मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन आदि होती हैं।
नक्षत्र	=	अर्थात् जो चलता नहीं, 12 राशियों के भ्रमण में अपनी अपनी विशेष आकृतियों से युक्त 13 अंश 20 कला के मान के अश्विनी भरणी आदि 27 नक्षत्र होते है। इनमें अपनी गति नही होती।2.1 नक्षत्रकाल = नियत समय के द्योतक जैसे घटी- पल- विपल, अथवा घण्टा, मिनट, सेकेण्ड।
सौर	=	इसका सम्बन्ध सूर्य से है।
चान्द्र	=	इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है।
सावन दिन	=	एक सूर्योदय से अग्रिम सूर्योदय के मध्य का काल।
भगण	=	सम्पूर्ण राशि मण्डल को भगण कहते हैं। अर्थात् कोई ग्रह जब आकाश में स्थित सम्पूर्ण (12) राशियों का एक भ्रमण कर ले तो यह एक भगण होता है।
अहर्गण	=	सृष्टि में प्रारम्भ से आज तक के सावन दिनों की संख्या।
अमान्त	=	अमावस्या का अन्तिम बिन्दु।
पूर्णिमान्त	=	पूर्णिमा का अन्तिम बिन्दु।
संक्रान्ति	=	संक्रमण सूर्य द्वारा एक राशि से दूसरी राशि में जाना ही संक्रान्ति होती है।

ग्रह	=	वे आकाशीय पिण्ड जो स्वयं की गति से चलते हैं।
प्रवह वायु	=	भूमि से बहुत उपर एक विशेष प्रकार की वायु जो समस्त ग्रह- नक्षत्र मण्डल को पूर्व की ओर घुमा रही है।
क्षितिज वृत	=	खमध्य से 90 °व्यासार्द्ध से निर्मित वृत होता है।
क्षितिज	=	खुले स्थान पर भूमि पर दूर देखने पर एक स्थान पर भूमि और आकाश के मिले हुए दिखायी देने को क्षितिज कहते है।
सृष्ट्यादि	=	ग्रह - नक्षत्र - भूमि आदि सकल पदार्थो की जब उत्पत्ति हुई उसी समय को सृष्ट्यादि कहते हैं।
लघुत्तम	=	सबसे छोटा।
महत्तम	=	सबसे बड़ा।
कल्प	=	ब्रह्मा जी का एक दिन (1000 महायुगों का मान)
मन्वन्तर	=	71 महायुगों का मान।
दिव्यवर्ष	=	देवताओं का वर्ष (360 सौर वर्ष तुल्य)
दिव्यदिन	=	देवताओं का दिन (एक सौर वर्ष तुल्य)
वार्हस्पत्य	=	वृहस्पति से सम्बन्धित

5.11 उपयोगी पुस्तकें

1. सूर्य सिद्धान्त:- आचार्य कपिलेश्वर शास्त्री
2. सिद्धान्त शिरोमणी:- चौखम्भा प्रकाशन वाराणासी
3. प्राच्याविद्यानुशीलनम्:- प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
4. श्रीमद भगवदगीता:- गीता प्रेस।
5. विष्णुपुराण:- गीता प्रेस।
6. भारतीय कुण्डली विज्ञान:- मीठालाल ओझा।

5.12 बोध प्रश्न

1. काल की परिभाषा समझाते हुए कालगणना को विस्तार से वर्णन करें।
2. ज्योतिषशास्त्र में वर्षमानों के प्रकार लिखते हुए उनका विस्तार से वर्णन करें।
3. प्राचीन व आधुनिक कालमानों का तुलनात्मक व्याख्या कीजिए?
4. ज्योतिषशास्त्र के काल गणना में चन्द्र का महत्त्व का विस्तार से वर्णन करें।
5. ज्योतिषशास्त्र में काल को जानना क्यो आवश्यक है ? उसको समझाते हुए वर्णन करें।